प्रथम संस्करण : ५२००
४ फरवरी, १९८८ ई०
द्वितीय संस्करण : ५२००
१५ दिसम्बर, १९८८ ई०

मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स
टैगोर गार्डन, दिल्ली

विषय-सूची

प्रकाशकीय

[द्वितीय संस्करण]

प्रस्तुत कृति का प्रथम संस्करण फरवरी १९८८ में ही प्रकाशित किया गया था। मात्र ९ माह में इसकी ५,२०० प्रतियाँ समाप्त हो गईं, जो एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। फिर भी माँग निरन्तर बनी हुई है, लगता है यह द्वितीय संस्करण भी अतिशीघ्र समाप्त हो जाएगा।

इस कृति में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द के संक्षिप्त परिचय के साथ-साथ उनकी अनमोल कृतियों – समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह तथा अष्टपाहुड़ – इन पंच परमागमों का संक्षिप्त सार भी दिया गया है। अतः इस कृति के स्वाध्याय से उक्त पच परमागमों में प्रतिपादित विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है।

जिन लोगों के पास न तो इतना समय है और न जिन्हें इतनी रुचि ही है कि उक्त परमागमों का आद्योपान्त स्वाध्याय करें, उन लोगों के लिए तो यह कृति अत्यन्त उपयोगी है ही, पर स्वाध्याय करने वालों के लिए भी उपयोगी है; क्योंकि उक्त परमागमों के गहरे स्वाध्याय में तो वर्षों लगते हैं, पर इस कृति के माध्यम से वे एक दिन में ही इन पंच परमागमों की विषय-वस्तु से परिचित हो सकते हैं।

इस पुस्तक का अन्तिम भाग 'कुन्दकुन्द शतक' के नाम से है, जिसमें पंच परमागमों की चुनी हुई १०१ गाथायें हैं, जिनका डॉ. भारिल्लजी ने सरल पद्यानुवाद भी किया है। इसकी अवतक पृथक् से १ लाख से अधिक प्रतियाँ 'कुन्दकुन्द शतक' के नाम से विभिन्न रूपों में मुद्रित होकर जन-जन तक पहुँच चुकी हैं। इसका अनुवाद मराठी, कन्नड़ एवं अंग्रेजी में हो चुका है, जो मराठी में ५,२००, कन्नड़ में ५,२०० और अग्रेजी में २,२०० छप रहा है। यही नहीं इसका सस्वर पाठ भी कैसिट के रूप में उपलब्ध है। ये कैसिटें भी २० हजार से अधिक विक्री होकर घर-घर में कुन्दकुन्द की वाणी गुंजा रही हैं।

इसके साथ ही डॉ० शुद्धात्मप्रभा द्वारा लिखित एवं राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच.डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध "आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : एक समालोचनात्मक अध्ययन" भी इस ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है, जो विक्री विभाग में उपलब्ध है।

श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट द्वारा महान ग्रंथाधिराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय तथा अष्टपाहुड़ के अनेक संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से कोई भी कृति जैसे ही समाप्त होती है, वह तत्काल पुनः प्रकाशित की जाती है, ताकि आ० कुन्दकुन्द के ये पंच परमागम हर समय आत्मपिपासुओं को उपलब्ध रहें।

इस कृति को तैयार करने में डॉ० भारिल्लजी ने जो व्यापक परिश्रम किया है, उसके लिए तो हम उनके आभारी हैं ही, साथ ही पुस्तक आपके हाथों तक पहुँचाने का श्रेय प्रकाशन विभाग के प्रवन्धक अखिल बंसल को है, जिन्होंने शीघ्र मुद्रण तथा बाइण्डिग व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी जन-जन में पहुँचे और अहिंसा धर्म का जयघोष विश्व में सर्वत्र हो – इसी भावना के साथ —

११ दिसम्बर, १९८८ ई० नेमीचंद पाटनी

महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१.	श्री हंसराजजी जैन, बहादुरगढ़	२१००)
२.	राजमतीबाई जैन, बारां	५००)
३.	श्री दिलसुखजी पहाड़िया, पीसांगन	३००)
४.	श्री जयन्तिभाई धनजीभाई दोशी, दादर बम्बई	१११)
५.	श्रीमती कमला जैन, जयपुर	१०१)
६.	प० लालारामजी साहू, अशोकनगर	१०१)
७.	गुप्तदान : हस्ते श्री पूनमचन्दजी छावड़ा, इन्दौर	१०१)
८.	श्रीमती नालीवेन मणिलाल, जाम्बूडी	१०१)
९.	श्री मांगीलालजी पदमकुमारजी पहाड़िया, इन्दौर	१०१)
१०.	सरस्वती देवी अभिनन्दनकुमारजी टड़ैया, ललितपुर	१०१)
११.	चौधरी फूलचन्दजी जैन, बम्बई	१०१)
१२.	श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिडिया, खैरागढ़	१०१)
	कुल	३८१९)

अपनी बात

बडी ही प्रसन्नता की बात है कि विभिन्न अखिल भारतीय दिगम्बर जैन संस्थाओं के माध्यम से सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज आचार्य कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दी समारोह विशाल पैमाने पर विविध आयोजनों द्वारा बड़े ही उत्साह से मनाने जा रहा है।

किसी भी साहित्यकार से सम्बन्धित कोई भी उत्सव तब तक सफल और सार्थक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साहित्य का विपुल मात्रा में प्रकाशन, समुचित वितरण, पठन-पाठन, समीक्षात्मक अध्ययन न किया जाय; उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर शोधकार्य न हो, उसका नाम जन-जन की जबान पर न आ जावे, उनका साहित्य घर-घर में न पहुँच जावे।

इस महान कार्य का भार उठानेवाली संस्थाओं को इस बात का अहसास गहराई से होगा ही और वे इस दिशा में सक्रिय भी होंगी।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन ने भी इस दिशा में मिलकर काम करने का संकल्प किया है। युवा फैडरेशन इस सन्दर्भ में स्थान-स्थान पर विशेष आयोजन कर रहा है, उनके साहित्य को जन-जन तक पहुंचाने के लिए प्रयत्नशील है। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट उक्त सन्दर्भ में श्रीमती डॉ० शुद्धात्मप्रभा द्वारा लिखित एवं राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध "आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : एक समालोचनात्मक अध्ययन" प्रकाशित कर चुका है।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के महामंत्री – नेमीचन्दजी पाटनी एवं मन्त्री – जतीशचन्द शास्त्री, अध्यक्ष – अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन ने मुझ से अनुरोध किया कि मैं आचार्य कुन्दकुन्द और उनके साहित्य के सन्दर्भ में एक ऐसी पुस्तक लिखूं, जिसमें कुन्दकुन्द के जीवन के साथ-साथ उनके अध्यात्म का परिचय भी जनसाधारण को प्राप्त हो सके। अन्य व्यस्तताओं के कारण समय न होने पर भी मेरा मन इस आग्रह को अस्वीकार न कर सका, क्योंकि कुन्दकुन्द मेरे सर्वाधिक प्रिय आचार्य रहे हैं। पण्डितों में

टोडरमल और आचार्यों में कुन्दकुन्द मेरे जीवन हैं, सर्वस्व हैं। आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी भी मेरे हृदय की गहराई में इसीलिए पैठ हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल को पढ़ने की प्रेरणा एवं उनके ग्रंथों को समझने की दृष्टि उनसे ही प्राप्त हुई है। इस सन्दर्भ मे यह बात भी कम विचारणीय नहीं है कि आचार्य कुन्दकुन्द और पंडित टोडरमल का जैसा प्रसार-प्रचार अकेले स्वामीजी ने किया है, वैसा क्या हम सब मिलकर भी कर सकेंगे?

आचार्य कुन्दकुन्द किसी व्यक्ति विशेष के नहीं, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज के हैं; सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज के ही क्यों, वे तो उन सभी आत्मार्थियों के हैं, अध्यात्मप्रेमियों के हैं, जो उनके साहित्य का अवलोकन कर आत्महित करना चाहते हैं, भवसागर से पार होना चाहते हैं।

उनके प्रति श्रद्धा समर्पित करने का अधिकार सभी को है और उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को उजागर करने का उत्तरदायित्व भी समान रूप से सभी का है, तथापि दिगम्बर जैन समाज की विशेष जिम्मेदारी है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज सभी प्रकार के आपसी मतभेदों को भुलाकर इस महान कार्य को बड़ी संजीदगी से सम्पन्न करेगी।

अल्प समय में तैयार की गई मेरी यह कृति भी इस दिशा में किया गया एक लघु प्रयास है, आचार्य कुन्दकुन्द के प्रति मेरी श्रद्धा का समर्पण मात्र है।

मैं इसके लिए कुछ अधिक कर भी नहीं पाया हूँ। आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागमों के प्रकाशन के अवसर पर समय-समय पर मैंने जो प्रस्तावनाएँ लिखी थीं, यह कृति उन सबका सुव्यवस्थित परिवर्धित रूप ही है। इसमें अधिकांश सामग्री तो उक्त प्रस्तावनाओं की ही है, पर बहुत कुछ नया भी है। अन्तिम अध्याय कुन्दकुन्द शतक एकदम नया है, शेष सामग्री में परिवर्द्धन तो हुआ है, पर मूलतः कोई अन्तर नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन पर कुछ नये विचार अवश्य व्यक्त किये गये हैं।

सब-कुछ मिलकर साधारण पाठकों के लिए यह कृति बहुत-कुछ उपयोगी बन गई है, क्योंकि इसमें उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर आचार्य

कुन्दकुन्द का संक्षिप्त जीवन तो आ ही गया है, उनके पंच परमागमों का सार भी आ गया है। जीवन के सन्दर्भ में इससे अधिक अभी कुछ उपलब्ध भी तो नहीं है। मैंने तो मात्र उपलब्ध सामग्री को व्यवस्थित कर दिया है, मेरे द्वारा जीवन के सन्दर्भ में कोई नई खोज नहीं की जा सकी है, पर इस सन्दर्भ में गहरी शोध-खोज की आवश्यकता अवश्य है। उनके साहित्य का भाषा की दृष्टि से भी अध्ययन अपेक्षित है।

वस्तुतः बात यह है कि मैं इतिहास और भाषा का अध्येता नहीं हूँ। मैं तो मूलतः आध्यात्मिक व्यक्ति हूँ। अतः मेरी रुचि और गति जितनी उनके अध्यात्म में है, उतनी भाषा व इतिहास में नहीं। मेरा सर्वस्व तो उनके अध्यात्म के पठन-पाठन, चिन्तन-मनन एवं प्रचार-प्रसार के लिए ही समर्पित है। मैं अपने उपयोग को इससे हटाना भी नहीं चाहता हूँ। अतः मुझसे अन्य क्षेत्र में कुछ होना संभव भी नही है, तथापि मैं उनके अन्य क्षेत्रों में गहरे अध्ययन की आवश्यकता अवश्य अनुभव करता हूँ।

मैं विगत ३२ वर्षों से आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों के घनिष्ट परिचय में हूँ। उनके ग्रंथों के पठन-पाठन में मुझे अद्भुत आनन्द आता है। समयसार पर तो आद्योपान्त अनेकवार प्रवचन भी कर चुका हूँ। आज के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भी परिचित हूँ। अतः मैंने इस कृति के प्रणयन में पाण्डित्य का प्रदर्शन न कर सीधी सरल भाषा में कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य को जनसाधारण के सामने रखने का प्रयास किया है। कुन्दकुन्द के ग्रंथों की प्रस्तावना लिखते समय भी मेरा यही दृष्टिकोण रहा है। वैसे तो मैं अपने सभी साहित्य मे सरलता और सहजता के प्रति सतर्क रहा हूँ, पर इस कृति मे तो विशेष ध्यान रखा गया है। इसी कारण कुन्दकुन्द की साहित्यिक विशेषताओं की चर्चा भी नहीं की है।

मैं अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल रहा हूँ – इसका निर्णय प्रिय पाठकों पर ही छोड़ता हूँ।

कुन्दकुन्द साहित्य की अध्यात्म-गंगा में सभी आत्मार्थीजन आकण्ठ निमग्न होकर अतीन्द्रिय-आनन्द प्राप्त करें – इस पावन भावनापूर्वक विराम लेता हूँ।

१ जनवरी, १९८८ ई० – (डॉ.) हुकमचन्द भारिल्ल

लेखक की अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशित कृतियाँ

१.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११.००
२.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी]	६.००
३.	धर्म के दशलक्षण [हि., गु., म., क., तमिल, अंग्रेजी]	६.००
४.	क्रमबद्धपर्याय [हि., गु., म., क., त., अं.]	५.००
५.	सत्य की खोज [हि., गु., म., त., क.]	६.००
६.	जिनवरस्य नयचक्रम्	६.००
७.	बारह भावना : एक अनुशीलन	५.००
८.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना [पद्य]	०.५०
९.	गागर में सागर	४.००
१०.	आप कुछ भी कहो [हिन्दी, कन्नड़, मराठी, गुजराती]	४.००
११.	मैं कौन हूँ ? [हि., गु., म., क., त., अंग्रेजी]	१.२५
१२.	युगपुरुष श्री कानजी स्वामी [हि., गु , म., क., त.]	२.००
१३.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हि., गु., म., क., त., अ., ते., अं.]	०.५०
१४.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	४.००
१५.	अर्चना (पूजन संग्रह)	०.५०
१६.	गोम्मटेश्वर बाहुवली	०.४०
१७.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर [हि., गु.]	०.२५
१८.	चैतन्य चमत्कार	१.५०
१९.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में [हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी]	१.२५
२०.	बालवोध पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क., त., बं., अं.]	१.००
२१.	बालबोध पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क., त., बं., अं.]	१.००
२२.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क., अं.]	१.००
२३.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क., अं.]	१.२५
२४.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क., अं.]	१.२५
२५.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क., अंग्रेजी]	१.२५
२६.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी]	१.४०
२७.	विदेशों में जैनधर्म : उभरते पदचिन्ह	२.००
२८.	विदेशों में जैनधर्म : बढ़ते कदम	१.००
२९.	सार-समयसार/कुन्दकुन्द शतक	१.००
३०.	कुन्दकुन्द शतक पद्यानुवाद	०.५०
३१.	समयसार पद्यानुवाद	१.००

प्रथम अध्याय

आचार्य कुन्दकुन्द

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते आ रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ-साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है। प्रवचन के आरम्भ में बोली जानेवाली उक्त पंक्तियाँ इसप्रकार हैं :—

"अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये ....विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु।"

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ समग्र आचार्यपरम्परा में एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को 'आदि' शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं, उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्यपरम्परा समाहित हो जाती है।

दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोला जानेवाला छन्द इसप्रकार है :—

"मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।"

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनविम्ब (जिनप्रतिमा या जिनमूर्ति) पर 'कुन्दकुन्दान्वय' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बतानेवाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं।

कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इसप्रकार हैं :–

"कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के – चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।[1]

यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे (अर्थात् वे अन्तरंग में रागादिमल से तथा बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे)।[2]"

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकैषणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं

---

[1] वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥
— जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, चन्द्रगिरि शिलालेख, पृष्ठ १०२

[2] ....कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः॥
— जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, विन्ध्यगिरि शिलालेख, पृष्ठ १९७-१९८

लिखा है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' में मात्र नाम का उल्लेख है[१]। इसीप्रकार 'बोधपाहुड' में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदह पूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य लिखा है[२]।

अतः उनके जीवन के संबंध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर करना पड़ता है। बाह्य साक्ष्यों में भी उनके जीवन संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने यद्यपि आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया है। शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। उक्त उल्लेखों से आपकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है; तथापि उनसे भी आपके जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

बाह्य साक्ष्य के रूप में उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्तिपत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोड़ित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार-संक्षेप कुल मिलाकर इसप्रकार है :-

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था ? – यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम संवत् ४९ में आप नन्दिसंघ के आचार्य पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये।[३] अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गांव के नामों या उपनामों से संबोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम है।

---

[१] द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ९०

[२] अष्टपाहुड : बोधपाहुड, गाथा ६१ व ६२

[३] नन्दिसंघ की पट्टावली

कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुतिमधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया।

यद्यपि 'आचार्य' पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इस प्रकार घुलमिल गया कि वह नाम का ही एक अंग हो गया।

इस सन्दर्भ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेखों में अनेकों बार समागत निम्नांकित छन्द उल्लेखनीय हैं :-

"श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गा श्रीगौतमाद्याप्रभविष्णवस्ते।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धियुक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव ॥३॥
श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारणर्द्धिः ॥४॥[1]

मुनीन्द्रों में श्रेष्ठ प्रभावशाली महर्द्धिक गौतमादि रत्नों की आकर आचार्यपरम्परा में नन्दिगण में श्रेष्ठ चरित्र के धनी, चारण ऋद्धिधारी 'पद्मनन्दी' नाम के मुनिराज हुए, जिनका दूसरा नाम 'आचार्य' शब्द है अंत में जिसके ऐसा 'कौण्डकुन्द' था अर्थात् 'कुन्दकुन्दाचार्य' था।"

उक्त छन्दों में तीन बिन्दु अत्यन्त स्पष्ट हैं :-

(१) गौतम गणधर के बाद किसी अन्य का उल्लेख न होकर कुन्दकुन्द का ही उल्लेख है, जो दिगम्बर परम्परा में उनके स्थान को सूचित करता है।

(२) उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी।

(३) उनका प्रथम नाम 'पद्मनन्दी' था और दूसरा नाम 'कुन्दकुन्दाचार्य' था। 'आचार्य' शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि 'आचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः' पद से अत्यन्त स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ, ३४, ४३, ५८ एवं ७१

बाद ही प्रचलित हुआ, परन्तु इतना प्रचलित हुआ कि मूल नाम भी विस्मृत-सा हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं।[1] इस सन्दर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इसप्रकार है :-

"आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥[2]"

उक्त सभी नामों में 'कुन्दकुन्दाचार्य' नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। जब उनके मूल नाम 'पद्मनन्दी' को भी बहुत कम लोग जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें ?

कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के भाग्यशाली गुरु कौन थे ? इस सन्दर्भ में अन्तर्साक्ष्य के रूप में बोधपाहुड को जो गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं, वे इसप्रकार हैं :-

"सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥६२॥

जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही भाषासूत्रों में शब्दविकाररूप से परिणमित हुआ है। उसे भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही जाना है और कहा भी वैसा ही है।

बारह अंग और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करनेवाले श्रुतज्ञानी गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।"

प्रथम (६१वीं) गाथा में यह बात यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है कि बोधपाहुड के कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं, तथापि

---

[1] श्रुतसागरसूरि : षट्प्राभृत-टीका, प्रत्येक प्राभृत की अंतिम पंक्तियाँ
[2] तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड २, पृष्ठ १०२ पर उद्धृत

दूसरी (६२वीं) गाथा जहाँ यह बताती है कि वे भद्रबाहु ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता पंचम श्रुतकेवली ही हैं, वहाँ यह भी बताती है कि वे कुन्दकुन्द के गमकगुरु (परम्परागुरु) हैं, साक्षात् गुरु नहीं।

इसीप्रकार का भाव समयसार की प्रथम गाथा में भी प्राप्त होता है, जो कि इसप्रकार है :–

"वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥

ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों को वंदन करके श्रुतकेवली द्वारा कथित समयप्राभृत को कहूँगा।"

इसप्रकार तो उन्हें भगवान महावीर का भी शिष्य कहा जा सकता है; क्योंकि वे भगवान महावीर की शासन परम्परा के आचार्य हैं। इस संदर्भ में दर्शनसार की निम्नलिखित गाथा पर भी ध्यान देना चाहिए :–

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

यदि सीमंधरस्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते ?"

क्या इस गाथा के आधार पर उन्हें सीमन्धर भगवान का शिष्य कहा जाय ? यहाँ प्रश्न इस बात का नहीं है कि उन्हें कहाँ-कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ था, वस्तुतः प्रश्न तो यह है कि उनके दीक्षागुरु कौन थे, उन्हें आचार्यपद किससे प्राप्त हुआ था ?

जयसेनाचार्यदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में उन्हें कुमारनन्दी सिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है और नन्दिसंघ की पट्टावली[1] में जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है; किन्तु इन कुमारनन्दी और

[1] जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७८

जिनचन्द्र का भी नाममात्र ही ज्ञात है, इनके सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। हो सकता है आचार्य कुन्दकुन्द के समान उनके दीक्षागुरु के भी दो नाम रहे हों। नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय बालब्रह्मचारी अवयस्क होने के कारण उनका नाम कुमारनन्दी रखा गया हो, बाद में पट्ट पर आसीन होते समय वे जिनचन्द्राचार्य नाम से विश्रुत हुए हों। पट्टावली में जिनचन्द्र नामोल्लेख होने का यह कारण भी हो सकता है। पट्टावली में माघनन्दी, जिनचन्द्र और पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द) क्रम आता है। नन्दिसंघ में नन्द्यन्त (नन्दी है अन्त में जिनके ऐसे) नाम होना सहज प्रतीत होता है।

पञ्चास्तिकायसंग्रह की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के आरम्भ में समागत जयसेनाचार्य का कथन मूलतः इसप्रकार है :-

"अथ श्रीकुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिर्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव के शिष्य प्रसिद्धकथान्याय से पूर्वविदेह जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्री सीमन्धरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर उनके मुखकमल से निसृत दिव्यध्वनि के श्रवण से शुद्धात्मादि तत्त्वों के साथ पदार्थों को अवधारण कर-ग्रहण कर समागत-श्री पद्मनन्दी आदि हैं अपरनाम जिनके उन-श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व और बहिर्तत्त्व को गौण और मुख्य प्रतिपत्ति के लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए रचित पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र में अधिकारों के अनुसार यथाक्रम से तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है।"

उक्त उद्धरण में प्रसिद्धकथान्याय के आधार पर कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा भी की गई है, जिससे यह प्रतीत होता है कि

आचार्य जयसेन के समय (विक्रम की वारहवीं शताब्दी में) यह कथा अत्यधिक प्रसिद्ध थी।

विक्रम की दसवीं सदी के आचार्य देवसेन के दर्शनसार में समागत गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की चर्चा की गई है। दर्शनसार के अन्त में लिखा है कि मैंने यह दर्शनसार ग्रन्थ पूर्वाचार्यों की गाथाओं का संकलन करके बनाया है। इस स्थिति में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा करने वाली गाथा भी दसवीं शताब्दी के बहुत पहले की हो सकती है।

इस सन्दर्भ में श्रुतसागरसूरि का निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है :—

श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्य-नामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरी-किणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेनतच्छुतज्ञानसंबोधि-तभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलि-कालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे·······

श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य—पंचनामधारी; जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धि के धारी; पूर्वविदेह की पुण्डरीकिणी नगरी में विराजित सीमन्धर अपरनाम स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्राप्त ज्ञान से भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को संबोधित करनेवाले; श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण; कलिकालसर्वज्ञ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में·······।"

उक्त कथन में कुन्दकुन्द के पाँच नाम, पूर्वविदेहगमन, आकाश-गमन और जिनचन्द्राचार्य के शिष्यत्व के अतिरिक्त उन्हें कलिकाल-सर्वज्ञ भी कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं का अवलोकन भी आवश्यक है।

'ज्ञान प्रबोध' में प्राप्त कथा का संक्षिप्त सार इसप्रकार है :-

"मालवदेश वारापुर नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठी नामक एक वरिणक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नामक पुत्र भी था। बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठ हुए जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किए और उनके उपदेश को अनेक नर-नारियों के साथ बड़े ही ध्यान से सुना।

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली शिष्य कुन्दकुन्द को जिनचन्द्राचार्य ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिन्तन में मग्न कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर भगवान को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' प्रस्फुटित हुआ। समवसरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करनेवाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है ? – यह प्रश्न सबके हृदय में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वारणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्द-कुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के पूर्वभव के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छिका गिर गई, तब उन्होंने गृद्धपिच्छिका से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान के दर्शन और दिव्यध्वनि-श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं, वापिस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, पर वह मार्ग में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्मोपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरि-गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मीदेवी ने स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है।

अन्त में अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्य पद प्रदानकर वे स्वर्गवासी हो गये।"

एक कथा 'पुण्यास्रव कथाकोश' में भी आती है, जिसका सार इसप्रकार है :–

"भरतखण्ड के दक्षिणदेश में 'पिडथनाडू' नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत कुरुमरई नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ एक ग्वाला रहता था, जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था। एक दिन जब वह अपने पशुओं को एक जंगल में ले जा रहा था, उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई। वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा कि इस आगम के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अतः वह उन्हें बड़े आदर से घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर में एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्तिभाव से आहार दिया। उसीसमय उस ग्वाले ने वह आगम उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्ररूप में जन्म लेगा। तबतक सेठ के कोई पुत्र नहीं था। मुनि के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्ररूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।"

इसके वाद पूर्वविदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

इसी से मिलती-जुलती कथा 'आराधना कथाकोश' में प्राप्त होती है।

आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन एवं भट्टारक श्रुतसागर जैसे दिग्गज आचार्यों एवं विद्वानों के सहस्राधिक वर्ष प्राचीन उल्लेखों एवं उससे भी प्राचीन प्रचलित कथाओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है, विवेक-सम्मत भी नहीं कही जा सकती।

अतः उक्त उल्लेखों और कथाओं के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर आचार्य परम्परा के चूड़ामणि हैं। वे विगत दो हजार वर्षों में हुए दिगम्बर आचार्यों, सन्तों, आत्मार्थी विद्वानों एवं आध्यात्मिक साधकों के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं, भगवान महावीर और गौतम गणधर के समान प्रातःस्मरणीय रहे हैं, कलिकालसर्वज्ञ के रूप में स्मरण किये जाते रहे हैं। उन्होंने इसी भव में सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमंधर अरहन्त परमात्मा के दर्शन किए थे, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। तभी तो कविवर वृन्दावनदास को कहना पड़ा :—

"हुए हैं न होंहिगे मुनिन्द कुन्दकुन्द से।[1]

विगत दो हजार वर्षों में कुन्दकुन्द जैसे प्रतिभाशाली, प्रभावशाली, पीढ़ियों तक प्रकाश विखेरनेवाले समर्थ आचार्य न तो हुए ही हैं और पंचम काल के अन्त तक होने की संभावना भी नहीं है।"

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि आचार्य कुन्दकुन्द सदेह विदेह गये थे, उन्होंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किए थे, उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया था; तो उन्होंने इस घटना का स्वयं उल्लेख क्यों नहीं किया ? यह कोई साधारण वात तो थी नहीं, जिसकी यों ही उपेक्षा कर दी गई।

---

[1] प्रवचनसार परमागम, पीठिका, छन्द ६६

बात इतनी ही नहीं है, उन्होंने अपने मंगलाचरणों में भी उन्हें विशेषरूप से कहीं स्मरण नहीं किया है। क्या कारण है कि जिन तीर्थंकर अरहंतदेव के उन्होंने साक्षात् दर्शन किए हों, जिनकी दिव्यध्वनि श्रवण की हो, उन अरहंत पद में विराजमान सीमन्धर परमेष्ठी को वे विशेषरूप से नामोल्लेखपूर्वक स्मरण भी न करें।

इसके भी आगे एक बात और भी है कि उन्होंने स्वयं को भगवान महावीर और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा से बुद्धिपूर्वक जोड़ा है।

प्रमाणरूप में उनके निम्नांकित कथनों को देखा जा सकता है :—

"वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।[1]

श्रुतकेवलियों द्वारा कहा गया समयसार नामक प्राभृत कहूँगा।

वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं।[2]

केवली तथा श्रुतकेवली के द्वारा कथित नियमसार मैं कहूँगा।

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण॥[3]

ऋषभदेव आदि तीर्थंकर एवं वर्द्धमान अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार कर यथाक्रम संक्षेप में दर्शनमार्ग को कहूँगा।

वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे।[4]

कषायमल से रहित आचार्यदेव को वंदना करके।

वीरं विसालनयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह॥[5]

विशाल हैं नयन जिनके एवं रक्त कमल के समान कोमल हैं चरण जिनके, ऐसे वीर भगवान को मन-वचन-काय से नमस्कार करके शीलगुणों का वर्णन करूँगा।

---

[1] समयसार, गाथा १
[2] नियमसार, गाथा १
[3] अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा १
[4] अष्टपाहुड : बोधपाहुड, गाथा १
[5] अष्टपाहुड : शीलपाहुड, गाथा १

पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।[1]
धर्मतीर्थ के कर्त्ता भगवान वर्द्धमान को नमस्कार करता हूँ ।"

उक्त मंगलाचरणों पर ध्यान देने पर एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की वर्तमान चौबीसी के तीर्थंकरों का तो नाम लेकर स्मरण किया है, किन्तु जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों के तीर्थंकरों को नाम लेकर कहीं भी याद नहीं किया है । मात्र प्रवचनसार में बिना नाम लिए ही मात्र इतना कहा है :-

"वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।[2]
मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाईद्वीप में विद्यमान अरहंतों को वंदना करता हूँ ।"

इसीप्रकार प्रतिज्ञावाक्यों में केवली और श्रुतकेवली की वाणी के अनुसार ग्रन्थ लिखने की बात कही है । यहाँ निश्चित रूप से केवली के रूप में भगवान महावीर को याद किया गया है, क्योंकि श्रुतकेवली की बात करके उन्होंने साफ कह दिया है कि श्रुतकेवलियों के माध्यम से प्राप्त केवली भगवान की बात मैं कहूँगा । इसी कारण उन्होंने भद्रबाहु श्रुतकेवली को अपना गमकगुरु स्वीकार किया है । समयसार में तो सिद्धों को नमस्कार कर मात्र श्रुतकेवली को ही स्मरण किया है, श्रुतकेवली-कथित समयप्राभृत को कहने की प्रतिज्ञा की है, केवली की बात ही नहीं की है, फिर सीमन्धर भगवान की वाणी सुनकर समयसार लिखा है – इस बात को कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार की पाँचवीं गाथा की टीका में इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है ।

उनके मूल कथन का हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है :-

"निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव और अपरगुरु गणधरादि से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त, उनके प्रसादरूप

---

[1] प्रवचनसार, गाथा १
[2] प्रवचनसार, गाथा ३

से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश, उससे मेरे निजवैभव का जन्म हुआ है।"

आगे कहा गया है कि मैं अपने इस वैभव से आत्मा बताऊँगा। तात्पर्य यह है कि समयसार का मूलाधार महावीर, गौतमस्वामी, भद्रबाहु से होती हुई कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु तक आई श्रुतपरम्परा से प्राप्त ज्ञान है।

पंडित जयचंदजी छावड़ा ने अपनी प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा है :-

"भद्रबाहुस्वामी की परम्परा में ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुये। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत को नागहस्ती नामक मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यति नामक मुनि ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्रप्रमाण की। इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रों के ज्ञाता हुए।

– इसतरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई।............

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्धनय का उपदेश करनेवाले पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्म प्रकाश आदि शास्त्र हैं, उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचंद्राचार्य ने की है।"

उक्त सम्पूर्ण कथनों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द को भरतक्षेत्र में विद्यमान भगवान महावीर की आचार्यपरम्परा से जुड़ना ही अभीष्ट है। वे अपनी बात की प्रामाणिकता के लिए भगवान महावीर और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की आचार्यपरम्परा पर ही निर्भर हैं।

यह सब स्पष्ट हो जाने पर भी यह प्रश्न चित्त को कुरेदता ही रहता है कि जब उन्होंने सर्वज्ञदेव सीमन्धर भगवान के साक्षात् दर्शन किए थे, उनका सदुपदेश भी सुना था तो फिर वे स्वयं को उससे क्यों

नहीं जोड़ते ? न भी जोड़ें तो भी उनका उल्लेख तो किया ही जा सकता था, उनका नामोल्लेखपूर्वक स्मरण तो किया ही जा सकता था ?

उक्त शंकाओं के समाधान के लिए हमें थोड़ा गहराई में जाना होगा। आचार्य कुन्दकुन्द बहुत ही गम्भीर प्रकृति के निरभिमानी जिम्मेदार आचार्य थे। वे अपनी जिम्मेदारी को भलीभाँति समझते थे; अतः अपने थोड़े से यशलाभ के लिए वे कोई ऐसा काम नहीं करना चाहते थे, जिससे सम्पूर्ण आचार्यपरम्परा व दिगम्बर दर्शन प्रभावित हो। यदि वे ऐसा कहते कि मेरी बात इसलिए प्रामाणिक है, क्योंकि मैंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किए हैं, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया है तो उन आचार्यों की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती, जिनको सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों का लाभ नहीं मिला था या जिन्होंने सीमन्धर परमात्मा से साक्षात् तत्त्वश्रवण नहीं किया था, जो किसी भी रूप में ठीक नहीं होता।

दूसरी बात यह भी तो है कि विदेहक्षेत्र तो वे मुनि होने के बाद गए थे। वस्तुस्वरूप का सच्चा परिज्ञान तो उन्हें पहले ही हो चुका था। यह भी हो सकता है कि उन्होंने अपने कुछ ग्रन्थों की रचना पहले ही कर ली हो। पहले निर्मित ग्रन्थों में तो उल्लेख का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, पर यदि बाद के ग्रन्थों में उल्लेख करते तो पहले के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता। अतः उन्होंने जानबूझकर स्वयं को महावीर और भद्रबाहु श्रुतकेवली की आचार्यपरम्परा से जोड़ा।

यदि वे अपने को सीमन्धर तीर्थंकर अरहंत की परम्परा से जोड़ते या जुड़ जाते तो दिगम्बर धर्म को अत्यधिक हानि उठानी पड़ती।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान महावीर साधु अवस्था में सम्पूर्णतः नग्न थे। अतः हमारे श्वेताम्बर भाई अपने को महावीर की अचेलक परम्परा से न जोड़कर पार्श्वनाथ की सचेलक परम्परा से जोड़ते हैं। इसप्रकार वे अपने को दिगम्बर से प्राचीन सिद्ध करना

चाहते हैं। वस्तुतः तो पार्श्वनाथ भी अचेलक ही थे। पार्श्वनाथ ही क्या, सभी तीर्थंकर अचेलक ही होते हैं, पर स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में वे उन्हें अपने मत की पुष्टि के लिए सचेलक मान लेते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द अपने को सीमन्धर परमात्मा से जोड़ते तो दिगम्बरों को विदेहक्षेत्र की परम्परा का जैन कहा जाने लगता, क्योंकि कुन्दकुन्द दिगम्बरों के सर्वमान्य आचार्य थे। इसप्रकार चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा के उत्तराधिकार का दावा श्वेताम्बर भाई करने लगते। अतः दिगम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द का बार-बार यह घोषित करना कि मैं और मेरे ग्रन्थ भगवान महावीर, गौतम गणधर और श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा के ही हैं, अत्यन्त आवश्यक था।

किसी भी रूप में दिगम्बरों का सम्बन्ध भरतक्षेत्र से टूटकर विदेहक्षेत्र से न जुड़ जावे – हो सकता है इस बात को ध्यान में रखकर ही कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र-गमन की घटना का कहीं जिक्र तक न किया हो।

दूसरे, यह उनकी विशुद्ध व्यक्तिगत उपलब्धि थी। व्यक्तिगत उपलब्धियों का सामाजिक उपयोग न तो उचित ही है और न आवश्यक ही। अतः वे उसका उल्लेख करके उसे भुनाना नहीं चाहते थे। विदेहगमन की घोषणा के आधार पर वे अपने को महान साबित नहीं करना चाहते थे। उनकी महानता उनके ज्ञान, श्रद्धान एवं आचरण के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। यह भी एक कारण रहा है कि उन्होंने विदेहगमन की चर्चा तक नहीं की।

तत्कालीन समय में लोक में तो यह बात प्रसिद्ध थी ही, यदि वे भी इसका जरा-सा भी उल्लेख कर देते तो यह बात तूल पकड़ लेती और इसके अधिक प्रचार-प्रसार से लाभ के बदले हानि अधिक होती। हर चमत्कारिक घटनाओं के साथ ऐसा ही होता है। अतः उनसे संबंधित व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे इनके अनावश्यक प्रसार-प्रचार में लिप्त न हों; जहाँ तक संभव हो, उनके प्रचार-प्रसार

पर रोक लगावें, अन्यथा उनसे लाभ के स्थान पर हानि होने की संभावना अधिक रहती है।

कल्पना कीजिए कि आचार्यदेव कहते कि मैं विदेह होकर आया हूँ, सीमन्धर परमात्मा के दर्शन करके आया हूँ, उनकी दिव्य-ध्वनि सुनकर आया हूँ; इस पर यदि कोई यह कह देता कि क्या प्रमाण है इस बात का, तो क्या होता ? क्या आचार्यदेव उसके प्रमाण पेश करते फिरते ? यह स्थिति कोई अच्छी तो नहीं होती।

अतः प्रौढ़ विवेक के धनी आचार्यदेव ने विदेहगमन की चर्चा न करके अच्छा ही किया है; पर उनके चर्चा न करने से उक्त घटना को अप्रामाणिक कहना देवसेनाचार्य एवं जयसेनाचार्य जैसे दिग्गज आचार्यों पर अविश्वास व्यक्त करने के अतिरिक्त और क्या है ? उपलब्ध शिलालेखों एवं उक्त आचार्यों के कथनों के आधार पर यह तो सहज सिद्ध ही है कि वे सदेह विदेह गये थे और उन्होंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किये थे, उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया था।

भगवान महावीर की उपलब्ध प्रामाणिक श्रुतपरम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के अद्वितीय योगदान की सम्यक् जानकारी के लिए पूर्वपरम्परा का सिंहावलोकन अत्यन्त आवश्यक है। समयसार के आद्य भाषाटीकाकार पण्डित जयचन्दजी छावड़ा समयसार की उत्पत्ति का सम्बन्ध बताते हुए लिखते हैं :-

"यह श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत गाथाबद्ध समयसार नामक ग्रन्थ है। उसकी आत्मख्याति नामक श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कृत संस्कृत टीका है। इस ग्रन्थ की उत्पत्ति का सम्बन्ध इसप्रकार है कि अन्तिम तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ वीतराग परम भट्टारक श्री वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण जाने के बाद पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी हुए।

वहाँ तक तो द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार-निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा, बाद में काल-दोष से अंगों के ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई और कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए, जिनमें श्वेताम्बर हुए, उन्होंने शिथिलाचार-पोषण करने के लिए

अलग से सूत्र बनाये, जिनमें शिथिलाचार-पोषक अनेक कथायें लिख कर अपना सम्प्रदाय दृढ़ किया। यह सम्प्रदाय अबतक प्रसिद्ध है।

इनके अलावा जो जिनसूत्र की आज्ञा में रहे, उनका आचार यथावत् रहा, प्ररूपणा भी यथावत् रही; वे दिगम्बर कहलाये। इस सम्प्रदायानुसार श्री वर्द्धमान स्वामी को निर्वाण प्राप्त करने के ६८३ वर्ष के बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी हुए; उनकी परिपाटी में कितने ही वर्ष बाद मुनि हुए, जिन्होंने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

एक तो धरसेन नामक मुनि हुए, उनको अग्रायणी पूर्व के पाँचवें वस्तु अधिकार में महाकर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उन्होंने यह प्राभृत भूतवली और पुष्पदन्त नाम के मुनियों को पढ़ाया। उन दोनों मुनियों ने आगामी काल-दोष से बुद्धि की मन्दता जानकर उस प्राभृत के अनुसार षट्खण्डसूत्र की रचना करके पुस्तकरूप लिखकर उसका प्रतिपादन किया। उनके बाद जो मुनि (वीरसेन) हुए, उन्होंने उन्हीं सूत्रों को पढ़कर विस्तार से टीका करके धवल, महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्तों की रचना की। उनके बाद उन्हीं टीकाओं को पढ़कर श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्र बनाये।

-- इसप्रकार यह प्रथम सिद्धान्त की उत्पत्ति है। इसमें जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई आत्मा की संसारपर्याय के विस्तार का गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप में संक्षेप से वर्णन है। यह कथन तो पर्यायार्थिकनय को मुख्य करके है; इस ही नय को अशुद्धद्रव्यार्थिक नय भी कहते हैं तथा इसी को अध्यात्मभाषा में अशुद्धनिश्चयनय व व्यवहारनय भी कहते हैं।

भद्रबाहु स्वामी की परम्परा में ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत को नागहस्ति नामक मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यतिनायक नामक मुनि ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्र प्रमाण की।

इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रों के ज्ञाता हुए। इसतरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्धद्रव्यार्थिकनय का कथन है। अध्यात्मभाषा में आत्मा का ही अधिकार होने से इसको शुद्धनिश्चय तथा परमार्थ भी कहते हैं। इसमें पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

इस जीव को जब तक पर्यायबुद्धि रहती है, तब तक संसार रहता है। जब इसे शुद्धनय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि होती है तथा अपने आत्मा को अनादि-अनन्त, एक, सर्व परद्रव्यों व परभावों के निमित्त से उत्पन्न हुए अपने भावों से भिन्न जाता है और अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करके शुद्धोपयोग में लीन होता है; तब यह जीव कर्मों का अभाव करके निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्धनय का उपदेश करनेवाले पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र हैं; उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने की है।

काल-दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती जा रही है, उसके निमित्त से प्राकृत-संस्कृत के जाननेवाले भी विरले रह गये हैं तथा गुरुओं की परम्परा का उपदेश भी विरला हो गया है; अतः मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार अन्य ग्रन्थों का अभ्यास करके इस ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका करना प्रारम्भ किया है।

जो भव्यजीव इसका वांचन करेंगे, पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा उसका तात्पर्य हृदय में धारण करेंगे, उनके मिथ्यात्व का अभाव होगा तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी – ऐसा अभिप्राय है; अन्य पण्डिताई तथा मान-लोभादि का अभिप्राय नहीं है।

इसमें कहीं बुद्धि की मन्दता तथा प्रमाद से हीनाधिक अर्थ लिखा जाय तो बुद्धि के धारक ज्ञानीजन मूलग्रन्थ देखकर शुद्ध करके वांचन

करना, हास्य मत करना; क्योंकि सत्पुरुषों का स्वभाव गुण-ग्रहण करने का ही होता है – यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है।[1]"

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उससमय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखरप्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह समय श्वेताम्बर मत का आरम्भकाल ही था। इससमय वरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी।

भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे। एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम (अध्यात्म-शास्त्र) को लिखितरूप से व्यवस्थित करना और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एवं कठोर कदम उठाना। दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने बखूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा हो रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अतः उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं :– निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके ये महान ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आज तक आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं।

---

[1] समयसार प्रस्तावना

अष्टपाहुड में उनके प्रशासकरूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे। इसमें उन्होंने श्वेताम्बर मत का जिस कठोरता से निराकरण किया है, उसे देखकर कभी-कभी ऐसा विकल्प आता है कि कहीं इसे पढ़कर हमारे श्वेताम्बरभाई उनके अध्यात्म से भी दूर न हो जायें। पर यह हमारा भ्रम ही है; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पढ़कर विगत दो हजार वर्ष में जितने श्वेताम्बर बन्धुओं ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है, उतने किसी अन्य द्वारा नहीं। कविवर पण्डित बनारसीदास एवं आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसके जाने-माने उदाहरण हैं।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के द्वारा तो कुन्दकुन्द के शास्त्रों के माध्यम से लाखों श्वेताम्बरभाइयों को भी दिगम्बर धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाया गया है। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि हैं; तथापि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज उनसे अपरिचित-सा ही था।

तत्कालीन दिगम्बर जैन समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है :-

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र वांचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे।

यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।[1]"

---

[1] जैनसन्देश, ४ नवम्बर, १९७६, सम्पादकीय

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के साथ-साथ इस युग में कुन्दकुन्द को जन-जन तक पहुँचानेवाले पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम-जैसे उन लाखों लोगों पर तो अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर पैंतालीस वर्ष तक अनवरतरूप से किये गये उनके प्रवचन टेपों एवं पुस्तकों के रूप में हमें आज भी उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द रचित परमागमों पर मात्र सरल प्रवचन ही नहीं किये, अपितु उक्त परमागमों के सस्ते सुलभ मनोज्ञ प्रकाशन भी कराये; तथा सोनगढ़ (जिला – भावनगर, गुजरात) में श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का निर्माण कराके, उसमें संगमरमर के पाटियों पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार संस्कृत टीका सहित तथा अष्टपाहुड उत्कीर्ण कराकर उन्हें भौतिक दृष्टि से भी अमर कर दिया है। उक्त परमागम मन्दिर आज एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है।

पवित्रता और पुण्य के अद्भुत संगम इस महापुरुष (श्री कानजी स्वामी) के मात्र प्रवचन ही नहीं, अपितु व्यवस्थित जीवन भी अध्ययन की वस्तु है; उसका अध्ययन किया जाना स्वतंत्ररूप से अपेक्षित है, तत्सम्बन्धी विस्तार न तो यहाँ सम्भव ही है और न उचित ही।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार है :–

(१) समयसार (समयपाहुड)

(२) प्रवचनसार (पवयणसारो)

(३) नियमसार (णियमसारो)

(४) पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंगहो)

(५) अष्टपाहुड (अट्ठपाहुड)

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।[1]

उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं।

अष्टपाहुड में निम्नलिखित आठ पाहुड संगृहीत हैं –

(१) दंसणपाहुड (२) सुत्तपाहुड (३) चारित्तपाहुड
(४) बोधपाहुड (५) भावपाहुड (६) मोक्खपाहुड
(७) लिंगपाहुड एवं (८) सीलपाहुड

समयसार जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद विवेचन करनेवाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं। ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी या कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकायसंग्रह पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नामक क्रमश: 'आत्मख्याति', 'तत्त्वप्रदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' हैं।

इन तीन ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुए आचार्य जयसेन द्वारा लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सरल-सुबोध टीकायें भी उपलब्ध हैं।

---

[1] रयणसार प्रस्तावना

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा में 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सराबोर है, भिन्न प्रकार की अद्‌भुत टीका है।

अष्टपाहुड के आरंभिक छह पाहुडों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्टारक श्रुतसागरसूरि की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षट्पाहुड नाम से प्रकाशित हुई। षट्पाहुड कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड के आरंभिक छह पाहुड ही षट्पाहुड नाम से जाने जाते हैं।

समयसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति में समागत कलशों (छन्दों) पर पाण्डे राजमलजी ने विक्रम सं० १६५३ में लोक भाषा ढूंढारी में एक बालबोधनी टीका लिखी, जो कलशों के गूढ़ रहस्य खोलने में अद्‌भुत है। उससे प्रेरणा पाकर और बहुत कुछ उसे ही आधार बनाकर कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने विक्रम सं० १६९३ में समयसार नाटक नामक ग्रन्थ की पद्यमय रचना की है, जो आज भी अध्यात्म प्रेमियों का कण्ठहार है। इसके बाद पंडितप्रवर जयचंदजी छावड़ा ने विक्रम सं० १८६४ में आत्मख्याति सहित समयसार की भाषा टीका बनाई, जो आज भी सर्वाधिक पढ़ी जाती है। अष्टपाहुड की भी जयचंदजी छावड़ा कृत भाषा टीका उपलब्ध है। अष्टपाहुड का स्वाध्याय भी आज उसी के आधार पर किया जाता है।

इसीप्रकार तत्त्वप्रदीपिका सहित प्रवचनसार पर पाण्डे हेमराजजी की भाषा टीका तथा कविवर वृन्दावनदासजी एवं महाकवि गोदी भावशा छन्दानुवाद भी उपलब्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द का सच्चा परिचय तो उनके ग्रन्थों में प्रतिपादित वह विषयवस्तु है, जिसे जानकर जैनदर्शन के हार्द को भलीभाँति समझा जा सकता है। अतः उनके द्वारा रचित पंच परमागमों में प्रतिपादित विषयवस्तु का संक्षिप्त सार दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

द्वितीय अध्याय

समयसार

यदि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में शिरोमणि हैं तो शुद्धात्मा का प्रतिपादक उनका यह ग्रन्थाधिराज समयसार सम्पूर्ण जिन-वाङ्मय का शिरमौर है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसके लिए "इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं[1] अर्थात् यह जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु है" – ऐसा कहा है, तथा इसकी महिमा "न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति[2] – समयसार से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है' – कहकर गाई है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं इसकी अन्तिम गाथा में इसके अध्ययन का फल बताते हुए कहते हैं :–

"जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं ।।४१५।।

जो आत्मा इस समयसार नामक शास्त्र को पढ़कर, इसमें प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर, उस आत्मवस्तु में स्थित होता है, अपने को स्थापित करता है. वह आत्मा उत्तम सुख अर्थात् अतीन्द्रिय-अनन्त-आनन्द को प्राप्त करता है।"

आचार्य जयसेन के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने संक्षेपरुचि वाले शिष्यों के लिए पंचास्तिकाय, मध्यमरुचि वाले शिष्यों के लिए प्रवचनसार और विस्ताररुचि वाले शिष्यों के लिए इस ग्रन्थाधिराज समयसार की रचना की है। इस बात का उल्लेख उक्त ग्रन्थों पर उनके द्वारा लिखी गई तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाओं के आरम्भ में कर दिया गया है।

---

[1] आत्मख्याति, कलश २४५

[2] आत्मख्याति, कलश २४४

इस ग्रन्थाधिराज पर आद्योपान्त १९ वार सभा में व्याख्यान कर इस युग में इसे जन-जन की वस्तु बना देनेवाले आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहा करते थे कि "यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें है। यह जैनशासन का स्तंभ है, साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। इसकी हर गाथा छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव में से निकली हुई है।"

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वों में छुपी हुई परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

आचार्यदेव पूर्वरंग में ही कहते हैं कि मैं अपने सम्पूर्ण वैभव से उस एकत्व-विभक्त आत्मा का दिग्दर्शन करूँगा, जो न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है, मात्र अभेद-अखण्ड एक ज्ञायकभाव रूप है, परमशुद्ध है। परमध्यान का ध्येय, एकमात्र श्रद्धेय वह भगवान आत्मा न तो कर्मों से बद्ध ही है और न कोई परपदार्थ उसे स्पर्श ही कर सकता है। वह ध्रुवतत्त्व पर से पूर्णतः असंयुक्त, अपने में ही सम्पूर्णतः नियत, अपने से अनन्य एवं समस्त विशेषों से रहित है।

तात्पर्य यह है कि पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभाव को ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षार्थियों के द्वारा एकमात्र यही आराध्य है, यही उपास्य है; इसकी आराधना-उपासना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त सभी देहादि परपदार्थों, रागादि विकारी भावों एवं गुणभेदादि के विकल्पों में अपनापन ही मिथ्यात्व है, अज्ञान है। यद्यपि देहादि परपदार्थों एवं रागादि विकारी भावों को जिनागम में व्यवहार से आत्मा कहा गया है, आत्मा का कहा गया है; पर वह व्यवहार प्रयोजनविशेषपुरतः ही सत्यार्थ है।

जिसप्रकार अनार्य को समझाने के लिए अनार्यभाषा का उपयोग उपयोगी ही है, पर अनार्य हो जाना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता; उसीप्रकार परमार्थ की सिद्धि के लिए परमार्थ के प्रतिपादक व्यवहार का उपयोग उपयुक्त ही है, तथापि व्यवहार-विमुग्ध हो जाना ठीक नहीं है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार के विषयभूत देहादि एवं रागादि को वास्तव में आत्मा जान लेना – मान लेना, अपना जान लेना – मान लेना कदापि उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

भगवान आत्मा तो देहादि में पाये जाने वाले रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्शी स्वभाववाला चेतन तत्त्व है, शब्दादि से पार अवक्तव्य तत्त्व है, इसे बाह्य चिह्नों से पहिचानना संभव नहीं है। भले ही उसे व्यवहार से वर्णादिमय अर्थात् गोरा-काला कहा जाता हो, पर कहने मात्र से वह वर्णादिमय नहीं हो जाता।

कहा भी है :–

"घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः॥[1]

जिसप्रकार 'घी का घड़ा' – इसप्रकार का वचनव्यवहार होने पर भी घड़ा घीमय नहीं हो जाता, उसीप्रकार 'वर्णादि वाला जीव' – ऐसा वचनव्यवहार होने मात्र से जीव वर्णादि वाला नहीं हो जाता।"

यह सार है समयसार के जीवाजीवाधिकार का। सम्पूर्ण विश्व को स्व और पर – इन दो भागों में विभक्त कर, पर से भिन्न और अपने

---
[1] आत्मख्याति, कलश ४०

से अभिन्न निज भगवान आत्मा की पहिचान कराना इस अधिकार का मूल प्रयोजन है।

जीवाजीवाधिकार के अध्ययन से स्व और पर की भिन्नता अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी जबतक यह आत्मा स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता मानता रहता है, तबतक वास्तविक भेद-विज्ञान उदित नहीं होता। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवाजीवाधिकार के तुरन्त बाद कर्त्ता-कर्म अधिकार लिखना आवश्यक समझा। पर के कर्तृत्व के बोझ से दबा आत्मा न तो स्वतंत्र ही हो सकता है और न उसमें स्वावलम्बन का भाव ही जागृत हो सकता है। यदि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के कार्यों का कर्त्ता-भोक्ता स्वीकार किया जाता है तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इस बात को कर्त्ता-कर्म अधिकार में बड़ी ही स्पष्टता से समझाया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द तो साफ-साफ कहते हैं :-

"कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी॥[1]

जो आत्मा क्रोधादि भावकर्मो, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एव शरीरादि नोकर्मों का कर्ता नहीं होता, उन्हें मात्र जानता ही है, वही वास्तविक ज्ञानी है।"

यदि हम गहराई से विचार करें तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्यों को करता है, उनके स्वतंत्र परिणमन में हस्तक्षेप करता है, उन्हें भोगता है तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का क्या अर्थ शेष रह जाता है ? इस कर्त्ता-कर्म अधिकार की उक्त गाथा में तो यहाँ तक कहा गया है कि पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों का कर्त्ता भी ज्ञानी नहीं होता, वह तो उन्हें भी मात्र जानता ही है।

---

[1] समयसार, गाथा ७५

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भाव आस्रवभाव हैं। इस कर्त्ता-कर्म अधिकार का आरंभ ही आत्मा और आस्रवों के बीच भेदविज्ञान से होता है। जब आत्मा भिन्न है और आस्रव भिन्न हैं तो फिर आस्रवभावों का कर्त्ता-भोक्ता भगवान आत्मा कैसे हो सकता है? जिनागम में जहाँ भी आत्मा को पर का या विकार का कर्त्ता-भोक्ता कहा गया है, उसे प्रयोजन विशेष से किया गया व्यवहारनय का कथन समझना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में वस्तुस्थिति तो यह है :-

"आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥[1]

आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करे? आत्मा परभावों का कर्त्ता है – ऐसा मानना-कहना व्यवहार-विमुग्धों का मोह ही है, अज्ञान ही है।"

कर्त्ता-कर्म की स्थिति स्पष्ट करते हुए समयसार नाटक के कर्त्ता-कर्म अधिकार में कविवर बनारसीदासजी लिखते हैं :-

"ग्यानभाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुद्गल करै, यह निहचै परवान॥ १७॥

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञान-भावों का कर्त्ता ज्ञानी आत्मा है, मोह-राग-द्वेष आदि अज्ञानभावों का कर्त्ता अज्ञानी आत्मा है और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, शरीरादि नोकर्मों का कर्त्ता पुद्गल-द्रव्य ही है।"

यद्यपि युद्ध योद्धाओं द्वारा ही किया जाता है, तथापि व्यवहार में यही कहा जाता है कि युद्ध राजा ने किया है। जीव को ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता कहना – इसीप्रकार का व्यवहार है। जिस प्रकार प्रजा के दोष-गुणों का उत्पादक राजा को कहा जाता है, उसीप्रकार पुद्गल द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता जीव को कहा जाता

---

[1] आत्मख्याति, कलश ६२

है। इसप्रकार अनेक उदाहरणों द्वारा परकर्तृत्व के व्यवहार की स्थिति स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :–

"उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ।।[1]

आत्मा पुद्गल द्रव्य को करता है, उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है – यह सब व्यवहारनय का कथन है ।"

वास्तव में देखा जाय तो आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई भी संबंध नहीं है ।

अज्ञानी आत्मा देहादि परपदार्थों एवं रागादि विकारों को निजरूप ही मानता है या फिर उन्हें अपना मानकर उनसे स्व-स्वामी सम्बन्ध स्थापित करता है, उनका स्वामी बनता है। यदि कदाचित् उन्हें अपना न भी माने तो भी उनका कर्त्ता-भोक्ता तो बनता ही है ।

इसप्रकार अज्ञानी के पर से एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व पाये जाते हैं। उक्त चारों ही स्थितियों को अध्यात्म की भाषा में पर से अभेद ही माना जाता है; अतः पर से एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व तोड़ना ही भेदविज्ञान है। जीवाजीवाधिकार में पर से एकत्व-ममत्व और कर्त्ता-कर्म-अधिकार में पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध कर भेदविज्ञान कराया गया है ।

इसप्रकार उक्त दोनों ही अधिकार भेदविज्ञान के लिए ही समर्पित हैं ।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं रागादि भावकर्मों को पुण्य-पाप के रूप में भी विभाजित किया जाता है। इसप्रकार शुभभाव एवं शुभ-कर्मों को पुण्य एवं अशुभभाव एवं अशुभकर्मों को पाप कहा जाता है। यद्यपि शुभाशुभरूप पुण्य और पाप दोनों ही कर्म हैं, कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा को बंधन में डालनेवाले हैं; तथापि अज्ञानीजन

---

[1] समयसार, गाथा १०७

पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा मानते हैं । अज्ञानजन्य इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप अधिकार का प्रणयन किया है ।

वे अधिकार के आरंभ में ही लिखते हैं -

"कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।।
सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।
तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ।।[1]

अज्ञानीजनों को संबोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि तुम ऐसा जानते हो कि शुभकर्म सुशील है और अशुभकर्म कुशील है, पर जो शुभाशुभ कर्म संसार में प्रवेश कराते हैं, उनमें से कोई भी कर्म सुशील कैसे हो सकता है ?

जिसप्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है, उसीप्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती ही है । इसीप्रकार जैसे अशुभ (पाप) कर्म जीव को बाँधता है, वैसे ही शुभ (पुण्य) कर्म भी जीव को बाँधता ही है । बंधन में डालने की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों ही कर्म समान ही हैं ।

सचेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि इसलिए पुण्य-पाप इन दोनों कुशीलों के साथ राग मत करो, संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है ।"

उक्त संदर्भ में समयसार नाटक के पुण्य-पाप अधिकार में समागत कतिपय महत्त्वपूर्ण छन्द इसप्रकार हैं :-

पापबंध पुन्नबंध दुहूं मैं मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गल कौ पेखिए ।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ करमचाल,
कुगति सुगति जगजाल मैं विसेखिए ।।

[1] समयसार, गाथा १४५ से १४७

कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसो द्वैतभाव ग्यान दृष्टि में न लेखिए।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंध रूप,
दुहूं को विनास मोख मारग में देखिए॥ ६॥

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल-
वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग है॥
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरम में करम त्याग-जोग है।
भौ-जल तरैया राग-द्वेष को हरैया महा-
मोख को करैया एक सुद्ध उपयोग है॥ ७॥

करम सुभासुभ दोइ, पुद्गलपिंड विभाव मल।
इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए॥११॥

शुभाशुभभावरूप पुण्य-पापभाव भावास्रव हैं एवं उनके निमित्त से पौद्गलिक कार्मारणवर्गरणाओं का पुण्य-पाप प्रकृतियोंरूप परिरणमित होना द्रव्यास्रव है। भगवान आत्मा (जीवतत्त्व) इन दोनों ही आस्रवों से भिन्न है। अज्ञानी जीव पुण्य और पाप में अच्छे-बुरे का भेद कर पुण्य को अपनाना चाहता है, उपादेय मानता है, मोक्षमार्ग जानता है; जबकि आस्रवतत्त्व होने से पाप के समान पुण्यतत्त्व भी हेय है, उपादेय नहीं; संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं। यही भेदज्ञान कराना पुण्य-पाप अधिकार का मूल प्रयोजन है।

ज्ञानावरणादि कर्मों के बंध के कारण होने से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आस्रव हैं। ये मिथ्यात्वादि आस्रव भावास्रव और द्रव्यास्रव के भेद से दो प्रकार के हैं। मिथ्यात्व, अविरति और कषाय तो मोह-राग-द्वेषरूप ही हैं; योग मन-वचन-काय की चंचलता एवं उसके निमित्त से आत्मप्रदेशों में होनेवाले कंपन को कहते हैं। आत्मप्रदेशों में होनेवाला कंपन भावयोग है और मन-वचन-काय की चंचलता द्रव्ययोग है। इसीप्रकार परपदार्थों में एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-

भोक्तृत्वबुद्धि भावमिथ्यात्व है और उसके निमित्त से कार्माणवर्गणा का मिथ्यात्वकर्मरूप परिणमित होना द्रव्यमिथ्यात्व है। इसीप्रकार अविरति और कषाय को भी समझ लेना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण आस्रवभावों से भगवान आत्मा (जीवतत्त्व) अत्यन्त भिन्न है। आस्रवभावों से भिन्न निज भगवान आत्मा को ही निज जानने-माननेवाले ज्ञानीजनों को मिथ्यात्वसंबंधी आस्रव नहीं होते – इसकारण उन्हें निरास्रव कहा जाता है। कहा भी है :–

"जो दरवास्रव रूप न होई। जहं भावास्रव भाव न कोई।
जाकी दशा ग्यानमय लहिए। तो ग्यातार निरास्रव कहिए ॥[1]"

इस अधिकार में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को निरास्रव सिद्ध किया गया है एवं इस संदर्भ में उठनेवाली शंका-आशंकाओं का निराकरण भी किया गया है। समयसार नाटक के तत्संबंधी कतिपय छन्द इसप्रकार हैं :–

"प्रश्नः– ज्यौं जग मैं विचरै मतिमंद, सुछन्द सदा वरतै बुध तैसो।
चंचल चित्त असंजित वैन, सरीर-सनेह जथावत जैसो ॥
भोग संजोग परिग्रह संग्रह, मोह विलास करै जहं ऐसो।
पूछत सिष्य आचारज सौं यह, सम्यक्वंत निरास्रव कैसो ॥[2]

उत्तरः– पूरव अवस्था जे करम-बंध कीने अब,
तेई उदै आइ नाना भांति रस देत हैं।
केई सुभ साता केई असुभ असाता रूप,
दुहूं सौं न राग न विरोध समचेत हैं ॥
जथाजोग क्रिया करैं फल की न इच्छा धरैं,
जीवन-मुकति कौ बिरद गहि लेत हैं।
यातैं ग्यानवंत कौं न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धता सौं न्यारे भये सुद्धता समेत हैं ॥[3]"

---

[1] समयसार नाटक, आस्रवद्वार, छन्द ४
[2] समयसार नाटक, आस्रवद्वार, छन्द ६
[3] समयसार नाटक, आस्रवद्वार, छन्द ७

वस्तुतः बात यह है कि शुद्धनय के विषयभूत अर्थ (निज भगवान आत्मा) का आश्रय करनेवाले ज्ञानीजनों को अनंत संसार के कारणभूत आस्रव-बंध नहीं होते । रागांश के शेष रहने से जो थोड़े-बहुत आस्रव-बंध होते हैं, उनकी उपेक्षा कर यहाँ ज्ञानी को निरास्रव और निर्बंध कहा गया है । कहा तो यहाँ तक गया है कि :—

"यह निचोर या ग्रन्थ कौ, यहै परमरस पोख ।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख ।।[१]"

आस्रव का निरोध संवर है, अतः मिथ्यात्वादि आस्रवों के निरोध होने पर संवर की उत्पत्ति होती है । संवर से संसार का अभाव और मोक्षमार्ग का आरंभ होता है, अतः संवर साक्षात् धर्मस्वरूप ही है । कहा भी है :—

"तेसिं हेदू भणिदा अज्झवासाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ।।
हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसव णिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ।।
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ।।[२]

सर्वदर्शी भगवान ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप अध्यवसानों को आस्रव का कारण कहा है । मिथ्यात्वादि कारणों के अभाव में ज्ञानियों के नियम से आस्रवों का निरोध होता है और आस्रवभाव के बिना कर्म का निरोध होता है । इसीप्रकार कर्म के अभाव में नोकर्म का एवं नोकर्म के अभाव में संसार का ही निरोध हो जाता है ।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि संवर अनंत दुखरूप संसार का अभाव करनेवाला एवं अनंत सुखस्वरूप मोक्ष का कारण है ।

---

[१] समयसार नाटक, आस्रवद्वार, छन्द १३

[२] समयसार, गाथा १९० से १९२

संवररूप धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण भेदविज्ञान है। यही कारण है कि इस ग्रन्थराज में आरंभ से ही पर और विकारों से भेदविज्ञान कराते आ रहे हैं।

भेदविज्ञान की भावना निरन्तर भाते रहने की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं :-

"संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते ॥
भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥[1]

यह साक्षात् संवर शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि (आत्मानुभव) से होता है और शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है। अतः यह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है। यह भेदविज्ञान तबतक अविच्छिन्न धारा से भाना चाहिए, जबतक कि ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान में ही स्थिर न हो जावे; क्योंकि आजतक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी जीव कर्मबन्धन में बँधे हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हुए हैं।"

भेदविज्ञान की महिमा और फल बताते हुए कविवर पंडित बनारसीदासजी लिखते हैं :-

"प्रगटि भेदविग्यान, आपगुन परगुन जानै।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै ॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै।
आस्रवद्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै ॥
छय करि विभाव समभाव भजि, निरविकलप निजपद गहै।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर, परम अतीन्द्रिय सुख लहै ॥[2]"

---

[1] आत्मख्याति, कलश १२६ से १३१

[2] समयसार नाटक, संवरद्वार, छन्द ११

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के आस्रव के अभावरूप संवर पूर्वक निज भगवान आत्मा का उग्र आश्रय होता है, उसके बल से आत्मा में उत्पन्न शुद्धि की वृद्धिपूर्वक जो कर्म खिरते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं। शुद्धि की वृद्धि भावनिर्जरा है और कर्मों का खिरना द्रव्यनिर्जरा। कविवर बनारसीदासजी ने निर्जरा की वंदना करते हुए उसका स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है :-

"जो संवरपद पाइ अनंदै। सो पूरवकृत कर्म निकंदै ॥
जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै। सो निरजरा बनारसि वंदै ॥[1]"

निर्जरा अधिकार के आरंभ में ही आचार्य कहते हैं :-

"उवभोगमिंदयेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥

जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥[2]

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा जो अचेतन और चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वह सर्व निर्जरा का निमित्त होता है।

जिसप्रकार वैद्य पुरुष विष को भोगता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी बंध को प्राप्त नहीं होता।

जिसप्रकार मदिरा को अरतिभाव से पीनेवाला पुरुष मतवाला नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानी भी द्रव्यों के उपभोग के प्रति अरत रहने से बंध को प्राप्त नहीं होता।"

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को क्रिया करते हुए एवं उसका फल भोगते हुए भी यदि कर्मबंध नहीं होता है और निर्जरा होती है तो

---

[1] समयसार नाटक, निर्जराद्वार, छन्द २

[2] समयसार, गाथा १९३, १९५ व १९६

उसका कारण उसके अन्दर विद्यमान ज्ञान और वैराग्य का बल ही है। इस बात को निर्जरा अधिकार में बहुत ही विस्तार से स्पष्ट किया गया है। उक्त संदर्भ में कविवर बनारसीदासजी के कतिपय छन्द द्रष्टव्य हैं :-

"महिमा सम्यग्ज्ञान की, अरु विराग बल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतैं, करम बंध नहिं होइ॥
पूर्व उदै सन बंध, विषै भोगवै समकिती।
करै न नूतन बंध, महिमा ग्यान विराग की॥
ग्यानी ग्यानमगन रहै, रागादिक मल खोइ।
चित उदास करनी करै, करमबंध नहिं होइ॥
मूढ़ करम कौ करता होवै। फल अभिलाष धरै फल जोवै॥
ग्यानी क्रिया करै फलसूनी। लगै न लेप निरजरा दूनी॥[1]"

परपदार्थ एवं रागभाव में रंचमात्र भी एकत्वबुद्धि नहीं रखनेवाले एवं अपने आत्मा को मात्र ज्ञायकस्वभावी जाननेवाले आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को संबोधित करते हुए आचार्यदेव कहते हैं :-

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥[2]

हे आत्मन् ! तू इस ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा में ही नित्य रत रह, इसमें ही नित्य सन्तुष्ट रह, इससे ही तृप्त हो – ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।"

इसप्रकार निर्जराधिकार समाप्त कर अब बंधाधिकार में कहते हैं कि जिसप्रकार धूल भरे स्थान में तेल लगाकर विभिन्न शस्त्रों से व्यायाम करनेवाले पुरुष को सचित्त-अचित्त केले आदि वृक्षों के छिन्न-भिन्न करने पर जो धूल चिपटती है, उसका कारण तेल की चिकनाहट ही है, धूल और शारीरिक चेष्टायें नहीं। उसीप्रकार हिंसादि पापों में

---

[1] समयसार नाटक, निर्जराद्वार, छन्द ३, ६, ३६ व ४३

[2] समयसार, गाथा २०६

प्रवर्तित मिथ्यादृष्टि जीव को होनेवाले पापबंध का कारण रागादिभाव ही हैं, अन्य चेष्टायें या कर्मरज आदि नहीं। बंधाधिकार के आरम्भ में ही अभिव्यक्त इस भाव को बनारसीदासजी ने इसप्रकार व्यक्त किया है :-

"कर्मजाल-वर्गना सौं जग मैं न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय जोग सौं ॥
चेतन अचेतन की हिंसा सौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच विषै-विष-रोग सौं ॥
कर्म सौं अबंध सिद्ध जोग सौं अबंध जिन,
हिंसा सौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोग सौं ।
इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोग सौं ॥[1]"

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि बंध का मूल कारण रागादि भावरूप अशुद्धोपयोग ही है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि अकेला अशुद्धोपयोग ही बंध का कारण क्यों है ? परजीवों का घात करना, उन्हें दुःख देना, उनकी सम्पत्ति आदि का अपहरण करना, झूठ बोलना आदि को बंध का कारण क्यों नहीं कहा गया है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि प्रत्येक जीव अपने सुख-दुःख और जीवन-मरण आदि का उत्तरदायी स्वयं ही है, कोई अन्य जीव अन्य जीव को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता और न मार-जिला ही सकता है। जब कोई व्यक्ति किसी का कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर किसी अन्य के जीवन-मरण और सुख-दुःख के कारण किसी अन्य को बंध भी क्यों हो ?

सभी जीव अपने आयुकर्म के उदय से जीते हैं और आयुकर्म के समाप्त होने पर मरते हैं। इसीप्रकार सभी जीव अपने कर्मोदय के

---

[1] समयसार नाटक, बंधद्वार, छन्द ४

अनुसार सुखी-दुःखी होते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के आयु कर्म या साता-असाता कर्म को ले-दे नहीं सकता तो फिर वह उनके जीवन-मरण और सुख-दुःख का उत्तरदायी भी कैसे हो सकता है ?

हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रत्येक जीव दूसरे जीवों को मारने-बचाने एवं सुखी-दुःखी करने के भाव (अध्यवसान) अवश्य कर सकता है और अपने उन भावों के कारण कर्मबंधन को भी प्राप्त हो सकता है। इसीप्रकार झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने एवं परिग्रह जोड़ने के संबंध में भी समझना चाहिए।

उक्त संदर्भ में विस्तृत चर्चा करने के उपरान्त आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :-

"अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥[1]
वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥[2]

बंध के सन्दर्भ में निश्चयनय की दो टूक बात यह है कि जीवों को चाहे मारो चाहे न मारो, कर्मबंध अध्यवसान से ही होता है। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि अध्यवसान भाव वस्तु के अवलम्बन-पूर्वक ही होते हैं, तथापि बंध वस्तु से नहीं, अध्यवसान भावों से ही होता है।"

यद्यपि यह बात सत्य है कि कर्मजाल, योग, हिंसा और भोग-क्रिया के कारण बंध नहीं होता, तथापि सम्यग्दृष्टी ज्ञानी धर्मात्मा के अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती और न होनी ही चाहिए; क्योंकि पुरुषार्थहीनता और भोगों में लीनता मिथ्यात्व की भूमिका में ही होते हैं। इस बात को समयसार नाटक में अत्यन्त सशक्त शब्दों में इसप्रकार व्यक्त किया है :-

---

[1] समयसार, गाथा २६२
[2] समयसार, गाथा २६५

"कर्मजाल जोग हिंसा भोग सौं न बंधै पै,
तथापि ग्याता उद्दिमी बखान्यो जिनबैन मैं।
ग्यानदिष्टि देत विषै-भोगनि सौं हेत दोऊ,
क्रिया एक खेत यौं तौ बनै नांहि जैन मैं॥
उदैबल उद्दिम गहै पै फल कौं न चहै,
निरदै दसा न होइ हिरदै के नैन मैं॥
आलस निरुद्दिम की भूमिका मिथ्यात मांहि,
जहां न संभारै जीव मोह नींद सैन मैं॥[1]"

संक्षेप में बंधाधिकार की विषयवस्तु यही है। अब मोक्षाधिकार में कहते हैं कि जिसप्रकार बंधनों में जकड़ा हुआ पुरुष बंधन का विचार करते रहने से बंधन से मुक्त नहीं होता, अपितु बंधनों को छेदकर बंधनों से मुक्त होता है; उसीप्रकार कर्मबन्धन का विचार करते रहने मात्र से कोई आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होता, अपितु वह कर्म-बन्धन को छेदकर मुक्ति प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा बंध और आत्मा का स्वभाव जानकर बंध से विरक्त होते हैं, वे ही कर्मबन्धनों से मुक्त होते हैं।

बंध और आत्मा के बीच भेद करने का काम प्रज्ञारूपी छैनी से होता है। कहा भी गया है :-

"जैसैं छैनी लोह की, करै एक सौं दोइ।
जड़ चेतन की भिन्नता, त्यौं सुबुद्धि सौं होइ॥[2]"

आत्मा और बंध के बीच प्रज्ञारूपी छैनी को डालकर जो आत्मा उन्हें भिन्न-भिन्न पहिचान लेते हैं, वे बंध को छेदकर शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर लेते हैं। जिस प्रज्ञा से बंध से भिन्न निज आत्मा को जानते हैं, उसी प्रज्ञा से बंध से भिन्न निज आत्मा को ग्रहण भी करते हैं। ज्ञानी

---

[1] समयसार नाटक, बंधद्वार, छन्द ६
[2] समयसार नाटक, मोक्षद्वार, छन्द ४

आत्मा भलीभाँति जानते हैं कि मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा ही हूँ, शेष सभी भाव मुझसे भिन्न भाव हैं।

जिसप्रकार लोक में अपराधी व्यक्ति निरन्तर सशंक रहता है और निरपराधी व्यक्ति को पूर्ण निःशंकता रहती है, उसीप्रकार आत्मा की आराधना करनेवाले निरपराधी आत्मा को कर्मबन्धन की शंका नहीं होती। यही सार है मोक्षाधिकार का।

अब सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में कहते हैं कि जिसप्रकार आँख परपदार्थों को मात्र देखती ही है, उन्हें करती या भोगती नहीं; उसीप्रकार ज्ञान भी पुण्य-पापरूप अनेक कर्मों को, उनके फल को, उनके बंध को, निर्जरा व मोक्ष को जानता ही है, करता नहीं।

"नास्ति सर्वोऽपि संबंध: परद्रव्यात्मतत्त्वयो:[1]" आचार्य अमृतचन्द्र की इस उक्ति के अनुसार जब भगवान आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई भी संबंध नहीं है तो फिर वह परपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता कैसे हो सकता है?

एक द्रव्य को दूसरे पदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता कहना मात्र व्यवहार का ही कथन है, निश्चय से विचार करें तो दो द्रव्यों के बीच कर्त्ता-कर्मभाव ही नहीं है। कहा भी है :-

"व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥[2]

केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्त्ता और कर्म भिन्न जाने जाते हैं, यदि निश्चय से वस्तु का विचार किया जाये तो कर्त्ता और कर्म सदा एक ही माने जाते हैं।"

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादिरूप परिणमित पुद्गल आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तुम हमें जानो' और आत्मा भी अपने स्थान को छोड़कर उन्हें जानने को कहीं नहीं जाता; दोनों अपने-अपने

---

[1] आत्मख्याति, कलश २००

[2] आत्मख्याति, कलश २१०

स्वभावानुसार स्वतंत्रता से परिणमित होते हैं। इसप्रकार स्वभाव से आत्मा परद्रव्यों के प्रति अत्यन्त उदासीन होने पर भी अज्ञान अवस्था में उन्हें अच्छे-बुरे जानकर राग-द्वेष करता है।

शास्त्र में ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानते नहीं हैं, इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। इसीप्रकार शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल, आकाश एवं अध्यवसान में भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये सब कुछ जानते नहीं हैं, अतः ज्ञान अन्य है और ये सब अन्य हैं। इसप्रकार सभी परपदार्थों एवं अध्यवसान भावों से भेदविज्ञान कराया गया है।

अन्त में आचार्यदेव कहते हैं कि बहुत से लोग लिंग (भेष) को ही मोक्षमार्ग मानते हैं, किन्तु निश्चय से मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। इसलिए हे भव्यजनो ! अपने आत्मा को आत्मा की आराधनारूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मय मोक्षमार्ग में लगाओ, अपने चित्त को अन्यत्र मत भटकाओ।

अत्यन्त करुणा भरे शब्दों में आचार्यदेव कहते हैं :–

"मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥[1]

हे आत्मन् ! तू स्वयं को निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में स्थापित कर, निजात्मा का ही ध्यान धर, निजात्मा में ही चेत, निजात्मा का ही अनुभव कर एवं निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में ही नित्य विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर, उपयोग को अन्यत्र मत भटका।"

समयसार शास्त्र का यही सार है, यही शास्त्र-तात्पर्य है।

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार ४१५ गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार समाप्त हो जाता है। इसके उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट के रूप में अनेकांत-स्याद्वाद, उपाय-उपेय भाव एवं ज्ञानमात्र भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों का बड़ा ही मार्मिक निरूपण करते हैं, जो मूलतः पठनीय है।

---

[1] समयसार, गाथा ४१२

परिशिष्ट के आरंभ में ही आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :–

"अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ।।[1]

यहाँ स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय-उपेयभाव का जरा फिर से विचार करते हैं ।"

इसप्रकार इस ग्रन्थाधिराज समयसार में नवतत्त्वों के माध्यम से मूल प्रयोजनभूत उस शुद्धात्मवस्तु का प्ररूपण है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है । अतः प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ।

कतिपय मनीषी आज यह भी कहते पाये जाते हैं कि समयसार तो मात्र मुनिराजों के अध्ययन की वस्तु है, गृहस्थों (श्रावकों) को इसका अध्ययन नहीं करना चाहिए । वे मात्र कहते ही नहीं हैं, अपितु उन्होंने इसके पठन-पाठन के निषेध में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा रखी है।

उन सभी से हमारा विनम्र अनुरोध है कि वे पूर्वाग्रह त्यागकर एक बार अपनी इस मान्यता पर गहराई से विचार करें ।

यह ग्रन्थाधिराज समयसार शताब्दियों से गृहस्थ विद्वानों द्वारा पढ़ा-पढ़ाया जाता रहा है और आज भी निरन्तर पठन-पाठन में है । विक्रम की सोलहवीं सदी में पाण्डे राजमलजी ने समयसार कलशों पर बालबोधनी टीका लिखी थी, जिसके आधार पर सत्रहवीं सदी में कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने समयसार नाटक रचा । १९वीं सदी में पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा ने इसकी भाषाटीका लिखी । इसीप्रकार ब्र० शीतलप्रसादजी ने भी इसपर टीका लिखी है । क्षुल्लक मनोहरलालजी वर्णी की सप्तदशांगी टीका भी प्रकाशित हो चुकी है । ब्र० पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री का अध्यात्म-अमृत-कलश भी समयसार कलशों की ही टीका है ।

क्या इन सब विद्वानों ने समयसार का स्वाध्याय किये बिना ही ये टीकायें और अनुवाद किये होंगे ?

---

[1] आत्मख्याति, कलश २४७

पण्डितप्रवर आशाधरजी (१३वीं सदी) एवं आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी (१८वीं सदी) के ग्रन्थों के अध्ययन से भी पता चलता है कि उन्होंने समयसार का मात्र वांचन ही नहीं किया था, अपितु गहरा अध्ययन भी किया था। क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी तो प्रतिदिन समयसार का पाठ करते थे और उन्हें सम्पूर्ण आत्मख्याति कण्ठस्थ थी। जैनेन्द्र वर्णी का भी समयसार का गहरा अध्ययन था। आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने तो भरी सभा में १९ बार समयसार पर प्रवचन किये थे, जो प्रवचन रत्नाकर नाम से प्रकाशित भी हो चुके हैं।

ध्यान रहे—इन सभी आत्मार्थियों में कोई भी मुनिराज नहीं था, सभी श्रावक ही थे। इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि आचार की दृष्टि से धर्म दो प्रकार का माना गया है :— (१) मुनिधर्म और (२) गृहस्थधर्म। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ गृहस्थधर्म के ही भेद हैं; अतः क्षुल्लक भी गृहस्थों में ही आते हैं।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जो लोग समयसार के स्वाध्याय का निषेध करते हैं, वे स्वयं गृहस्थ होकर भी इसका स्वाध्याय करते देखे जाते हैं। मैं उनसे विनम्रतापूर्वक एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि आपने स्वयं समयसार का स्वाध्याय किया है या नहीं? यदि हाँ तो फिर आप अन्य गृहस्थों को समयसार पढ़ने से क्यों रोकते हैं? और यदि आपने समयसार का स्वाध्याय किया ही नहीं है तो फिर यह जाने बिना कि उसमें क्या है?—उसके अध्ययन का निषेध कैसे कर सकते हैं?

भाई! आचार्यदेव ने यह ग्रन्थाधिराज अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के अज्ञान और मिथ्यात्व के नाश के लिए ही बनाया है, जैसा कि इसमें समागत अनेक उल्लेखों से स्पष्ट है। समयसार की ३८वीं गाथा की टीका में तो साफ-साफ लिखा है कि अत्यन्त अप्रतिबुद्ध आत्मविमूढ़ के लिए ही यह बात है।

सम्यग्दर्शन की मुख्यता से लिखे गये इस परमागम को मुख्यरूप से तो मिथ्यादृष्टियों को ही पढ़ना चाहिए; क्योंकि सम्यग्दर्शन की

प्राप्ति तो उन्हीं को करना है, मुनिराज तो सम्यग्दृष्टी ही होते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन के विना तो मुनि होना संभव ही नहीं है।

समयसार की चौथी गाथा में ही कहा गया है कि अज्ञानीजनों ने काम, भोग और बंध की कथा तो अनेक बार सुनी है, मैं तो उन्हें एकत्व-विभक्त आत्मा की ऐसी कथा सुनाने जा रहा हूँ कि जिसे न तो उन्होंने कभी सुनी है, न जिसका परिचय प्राप्त किया है और न जिनके अनुभव में ही वह भगवान आत्मा आया है।

सम्यग्दर्शन के विषयभूत भगवान आत्मा की वात भी जिन्होंने नहीं सुनी है, उनके लिए ही समयसार लिखा गया है – इस बात को दृष्टि से ओझल करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

समयसार में प्रतिपादित विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय दिया ही जा चुका है। क्या उसमें आपको कुछ ऐसा लगा कि जो गृहस्थों को पढ़ने योग्य न हो ? उक्त विषयवस्तु के आधार पर अव आप ही निर्णय कीजिए कि समयसार सभी को पढ़ना चाहिए या नहीं ?

हाँ, हमें इस बात की प्रसन्नता है कि जिन मनीषियों ने जीवनभर समयसार के पठन-पाठन का विरोध किया है, आज वे मनीषी स्वयं समयसार पढ़ रहे हैं, उस पर प्रवचन कर रहे हैं। उनके इस अप्रत्याशित परिवर्तन एवं साहस के लिए हम उनका सच्चे हृदय से अभिनन्दन करते हैं। हमारी तो यह पावन भावना है कि किसी के भी माध्यम से सही, यह समयसार घर-घर में पहुँचे और जन-जन की वस्तु वने।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का वहाना लेकर परमाध्यात्म के प्रतिपादक इस शास्त्र के अध्ययन का निषेध करनेवाले मनीषियों को पण्डित टोडरमलजी के इस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए :–

"यदि झूठे दोष की कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रों को पढ़ने-सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ है, उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे, मेघवर्षा होने पर वहुत से जीवों का कल्याण होता है और किसी को उल्टा नुकसान हो, तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना; उसी-

प्रकार सभा में अध्यात्म-उपदेश होने पर बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्ते, तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्मशास्त्रों का निषेध नहीं करना।

तथा अध्यात्मग्रन्थों से कोई स्वच्छन्द हो, सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी। परन्तु अध्यात्म-उपदेश न होने पर बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है, इसलिये अध्यात्म-उपदेश का निषेध नहीं करना।[1]"

पण्डित टोडरमलजी ने तो अपने इस कथन में समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन मात्र का ही समर्थन नहीं किया है, अपितु उनके आधार पर जनसभाओं में उपदेश देने का भी सतर्क प्रतिपादन किया है। आज के इस अशान्त जगत में अध्यात्म ही एक ऐसा दीपक है, जो भटकी हुई मानवसभ्यता को सन्मार्ग दिखा सकता है। अध्यात्म का जितना अधिक प्रचार-प्रसार होगा, सुख-शान्ति की संभावनाएँ भी उतनी ही अधिक प्रबल होंगी।

परमाध्यात्म के प्रतिपादक इस परमपावन परमागम का जितना भी प्रचार-प्रसार किया जाय, उतना ही कम है; अतः हम सभी आत्मार्थियों का पावन कर्तव्य है कि इसके प्रकाशन, वितरण, पठन-पाठन में सम्पूर्णतः समर्पित हो जावे।

भव और भव के भाव का अभाव करने में सम्पूर्णतः समर्थ इस ग्रन्थाधिराज का प्रकाशन, वितरण, पठन-पाठन निरन्तर होता रहे और आप सबके साथ मैं भी इसके मूल प्रतिपाद्य समयसारभूत निजात्मा में ही एकत्व स्थापित कर तल्लीन हो जाऊँ अथवा मेरा यह नश्वर जीवन भी इसी के अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा रहस्योद्घाटन में ही अविराम लगा रहे – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २९२

तृतीय अध्याय

प्रवचनसार

जिनेन्द्र भगवान के प्रवचन (दिव्यध्वनि) का सार यह कालजयी 'प्रवचनसार' परमागम आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रचलित अद्भुत सशक्त संरचना है। समस्त जगत को ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व (स्व-पर) के रूप में प्रस्तुत करने वाली यह अमर कृति विगत दो हजार वर्षों से निरन्तर पठन-पाठन में रही है। आज भी इसे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त है।

यद्यपि आचार्यों में कुन्दकुन्द और उनकी कृतियों में समयसार सर्वोपरि है, तथापि समयसार अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक विषयवस्तु के कारण विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त नहीं कर सका है; पर अपनी विशिष्ट शैली में वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनसार का प्रवेश सर्वत्र अबाध है।

प्रमाण और प्रमेय व्यवस्था का प्रतिपादक यह ग्रन्थराज आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी प्रौढ़तम कृति है, जिसमें वे आध्यात्मिक संत के साथ-साथ गुरु-गम्भीर दार्शनिक के रूप में प्रस्फुटित हुए हैं, प्रतिष्ठित हुए हैं।

आचार्य जयसेन के अनुसार यदि पंचास्तिकायसंग्रह की रचना संक्षेपरुचि वाले शिष्यों के लिए हुई थी, तो इस ग्रन्थराज की रचना मध्यम रुचि वाले शिष्यों के लिए हुई है।[1]

इस ग्रन्थराज की विषयवस्तु को तीन महा-अधिकारों में विभाजित किया गया है। 'तत्त्वदीपिका' टीका में आचार्य अमृतचन्द्र उन्हें ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन एवं चरणानुयोगसूचक चूलिका

---

[1] (क) प्रवचनसार : तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ २
(ख) पंचास्तिकायसंग्रह : तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ २

नाम से अभिहित करते हैं तो 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में आचार्य जयसेन सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार एवं सम्यक्चारित्राधिकार कहते हैं।

इस बात का स्पष्ट उल्लेख आचार्य जयसेन टीका के आरम्भ में ही कर देते हैं। वे अपने वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र के वर्गीकरण का भी उल्लेख करते हैं। आचार्य जयसेन ने अपने वर्गीकरण को 'तात्पर्यवृत्ति' में पातनिका के रूप में यथास्थान सर्वत्र स्पष्ट किया ही है।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र के वर्गीकरण के अनुसार प्रवचनसार के प्रतिपाद्य का विहंगावलोकन अभीष्ट है।

श्रुतस्कंधों के नाम से अभिहित इन महाधिकारों के अन्तर्गत भी अनेक अवान्तर अधिकार हैं।

(१) ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन या सम्यग्ज्ञानाधिकार नाम के प्रथम श्रुतस्कंध को चार अवान्तर अधिकारों में विभाजित किया गया है, जो इसप्रकार है :–

(१) शुद्धोपयोग-अधिकार (२) ज्ञान-अधिकार
(३) सुख-अधिकार (४) शुभपरिणाम-अधिकार

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन की प्रारम्भिक बारह गाथाएँ मंगलाचरण, प्रतिज्ञावाक्य एवं विषय-प्रवेश के रूप में हैं; जिनमें कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानप्रधान चारित्र ही धर्म है और साम्यभावरूप वीतराग चारित्र से परिणत आत्मा ही धर्मात्मा है।

ग्रन्थारंभ में ही चारित्र को धर्म घोषित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द चारित्र की परिभाषा इसप्रकार देते हैं :–

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥[1]

[1] प्रवचनसार, गाथा ७

मोह (दर्शनमोह – मिथ्यात्व) एवं क्षोभ (चारित्रमोह – राग-द्वेष) से रहित आत्मा के परिणाम को साम्य कहते हैं। यह साम्यभाव ही धर्म है, चारित्र है। इसप्रकार चारित्र ही धर्म है।"

निश्चय से तो शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव ही चारित्र है, पर व्यवहार से शुभोपयोगरूप सरागभाव को भी चारित्र कहते हैं। शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्र से परिणत आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है और शुभोपयोगरूप सराग चारित्र से परिणत जीव स्वर्गादि को प्राप्त कर संसार में ही रहते हैं।

इस ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन महाधिकार में सर्वप्रथम धर्म और धर्म के फल का सामान्य स्वरूप स्पष्ट कर अब शुद्धोपयोग-अधिकार आरम्भ करते हैं।

इस अधिकार में शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्र का स्वरूप एवं फल बताया गया है। आत्मरमणतारूप शुद्धोपयोग का फल अतीन्द्रिय ज्ञान (अनन्तज्ञान - केवलज्ञान - सर्वज्ञता) एवं अतीन्द्रियानंद (अनन्तसुख) की प्राप्ति है।

इसप्रकार १३वीं गाथा से २०वीं गाथा तक शुद्धोपयोग का स्वरूप और फल बताने के बाद शुद्धोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली सर्वज्ञता और अनन्त अतीन्द्रियानन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए क्रमश: ज्ञानाधिकार एवं सुखाधिकार लिखे गये हैं।

आचार्य जयसेन ने ज्ञानाधिकार का नाम 'सर्वज्ञसिद्धि-अधिकार' दिया है। इससे ही प्रतीत होता है कि ज्ञानाधिकार में सर्वज्ञता के स्वरूप पर ही विस्तार से विचार किया गया है। ३२ गाथाओं में फैले इस अधिकार में प्रस्तुत सर्वज्ञता का निरूपण अपने आप में अनुपम है, अद्वितीय है, मूलत: पठनीय है।

अनुत्पन्न (भावी) और विनष्ट (भूतकालीन) पर्यायों को जानने की संभावना से इनकार करने वालों को आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नांकित कथन पर ध्यान देना चाहिए :–

"जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ।।[1]

यदि अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?"

५३ से ६८ गाथा तक चलने वाले सुखाधिकार में कहा गया है कि जिसप्रकार इन्द्रियज्ञान हेय और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, उसीप्रकार इन्द्रियसुख हेय एवं अतीन्द्रियसुख उपादेय है, क्योंकि अतीन्द्रिय सुख ही पारमार्थिक सुख है । इन्द्रियसुख तो सुखाभास है, नाममात्र का सुख है ।

इन्द्रादिक भी सुखी नहीं हैं । यदि वे सुखी होते तो पञ्चेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं करते । जिन्हें विषयों में रति है, उन्हें दुःखी ही जानो ।

इसप्रकार इस अधिकार में शुद्धोपयोग से उत्पन्न अतीन्द्रियसुख को उपादेय और इन्द्रियसुख को हेय बताया गया है ।

इसके बाद इन्द्रियसुख के कारण के रूप में शुभपरिणाम-अधिकार आता है, क्योंकि अतीन्द्रियसुख के कारणभूत शुद्धोपयोग का वर्णन तो पहले हो ही चुका है । यह अधिकार ६९वीं गाथा से ९२वीं गाथा तक चलता है ।

इस अधिकार में जोर देकर बताया गया है कि पापभावों से प्राप्त होनेवाली प्रतिकूलताओं में तो दुःख है ही, पुण्यभावों–शुभ परिणामों से प्राप्त होनेवाली लौकिक अनुकूलताओं एवं भोगसामग्री का उपभोग भी दुःख ही है । शुभपरिणामों से प्राप्त होनेवाले लौकिक सुख का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव लिखते हैं :–

"सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।।[2]

इन्द्रियों से भोगा जानेवाला सुख पराधीन है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बंध का कारण है, विषम है; अतः उसे दुःख ही जानो ।"

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ३९

[2] प्रवचनसार, गाथा ७६

आचार्यदेव तो यहाँ तक कहते हैं :-

"रण हि मण्णदि जो एवं रणत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।[1]

इसप्रकार जो पुण्य और पाप में अर्थात् उनके फल के उपभोग में समानता नहीं मानता है, उन्हें समानरूप से हेय नहीं मानता है; वह मोह से आच्छन्न प्राणी अपार घोर संसार में परिभ्रमण करता है ।"

मोह की सेना को जीतने का उपाय बताने वाली बहुचर्चित ८०वीं गाथा भी इसी अधिकार में आती है, जो इसप्रकार है :-

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।

जो अरहंत भगवान् को द्रव्यरूप से, गुणरूप से एवं पर्यायरूप से जानता है; वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है ।"

इसके बाद मोह-राग-द्वेष का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनके नाश का उपाय बताया गया है, उनके नाश करने की पावन प्रेरणा दी गई है ।

इस सन्मार्गदर्शक पुरुषार्थप्रेरक ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन महाधिकार की टीका लिखते समय आचार्य अमृतचन्द्र का आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ अनेक स्थलों पर तीव्रतम वेग से प्रस्फुटित हुआ है । उनकी टीका की कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :-

"अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ।[2] इसलिए मैंने मोहरूपी सेना को जीतने के लिए कमर कसी है ।"

"यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ।[3] यदि ऐसा है तो मैंने मोहरूपी सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया ।"

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ७७

[2] प्रवचनसार गाथा ७९ की तत्त्वदीपिका टीका

[3] प्रवचनसार गाथा ८० की तत्त्वदीपिका टीका

"स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ।[1]

जिसके प्रसाद से मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म हो गया, धर्ममय हो गया, वह परमवीतरागचारित्ररूप शुद्धोपयोग सदा जयवन्त वर्तो ।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में अनन्त ज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के एकमात्र हेतु शुद्धोपयोग का एवं उससे उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान (सर्वज्ञता) एवं अतीन्द्रिय आनन्द का तथा सांसारिक सुख और उसके कारणरूप शुभ परिणामों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करते हुए अशुद्धोपयोग रूप शुभाशुभ परिणामों को त्यागकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक शुद्धोपयोगरूप वीतराग-चारित्र ग्रहण करने की पावन प्रेरणा दी गई है ।

(२) ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

इसके बाद ९३वीं गाथा से २०० वीं गाथा तक ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार चलता है । यद्यपि वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक होने से इस महाधिकार में मूलरूप से दो अवान्तर अधिकार ही होने चाहिए :- द्रव्यसामान्याधिकार और द्रव्यविशेषाधिकार; तथापि समस्त जिनागम का मूल प्रयोजन तो ज्ञान और ज्ञेय (स्व-पर) के बीच भेदविज्ञान करना ही है, अत: इसमें एक ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार नामक तीसरा अधिकार भी है । ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन एवं ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन के उपसंहारात्मक इस अंश को ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में ही सम्मिलित कर लिया गया ।

इसप्रकार इस महाधिकार में तीन अवान्तर अधिकार हैं :- द्रव्यसामान्याधिकार, द्रव्यविशेषाधिकार एवं ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार ।

९३वीं से १२६वीं गाथा तक चलने वाले द्रव्यसामान्याधिकार में समस्त द्रव्यों के सामान्य स्वरूप पर विचार किया गया है । गुण-पर्याय वाले द्रव्यों का लक्षण सत् है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय

[1] प्रवचनसार गाथा ९२ की तत्त्वदीपिका टीका

होता है; अतः इस अधिकार में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु का गहराई से चिन्तन किया गया है।

सत्, सत्ता, अस्तित्व – सभी एकार्थवाची हैं। वस्तु की सत्ता या अस्तित्व के सिद्ध हुए बिना उसका विस्तृत विवेचन संभव नहीं है। अतः इसमें सर्वप्रथम सत्ता के स्वरूप पर सतर्क विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो मूलतः पठनीय है।

महासत्ता (सादृश्य-अस्तित्व) एवं अवान्तरसत्ता (स्वरूपास्तित्व) के भेद से सत्ता (अस्तित्व) दो प्रकार की होती है।

यद्यपि सभी द्रव्य सत्‌रूप ही हैं, अस्तित्वमय हैं, सत्तास्वरूप हैं; तथापि प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है। अतः सत्सामान्य की दृष्टि से महासत्ता की अपेक्षा सभी एक होने पर भी सभी का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने से सभी का अस्तित्व स्वतंत्र है। सभी द्रव्यों की एकता सादृश्यास्तित्व पर आधारित होने से समानता के रूप में ही है, अभिन्नता के अर्थ में नहीं।

यह अधिकार जैनदर्शन की रीढ़ है, क्योंकि इसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु जैनदर्शन का हार्द है। यद्यपि यह सम्पूर्ण अधिकार गहराई से अनेक बार मूलतः पठनीय है; तथापि इसमें समागत कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लोभ का संवरण कर पाना मुझसे संभव नहीं हो पा रहा है।

दो द्रव्यों के बीच की भिन्नता को पृथकता एवं एक ही द्रव्य के गुण-पर्यायों के बीच की भिन्नता को अन्यता के रूप में इस अधिकार में जिसप्रकार परिभाषित किया है, वह अपने आप में अद्भुत है।

विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व का लक्षण है और अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। जिन पदार्थों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् कहा जाता है; पर जिनके प्रदेश अभिन्न हैं – ऐसे द्रव्य, गुण, पर्याय परस्पर अन्य-अन्य तो हैं; पर पृथक्-पृथक् नहीं।

जीव और पुद्गल पृथक्-पृथक् हैं; अथवा दो जीव भी अभिन्न नहीं, पृथक्-पृथक् ही हैं; पर ज्ञान और दर्शन पृथक्-पृथक् नहीं,

अन्य-अन्य हैं, अथवा रूप और रस भी पृथक्-पृथक् नहीं, अन्य-अन्य हैं।

जहाँ रूप है, वहीं रस है, जहाँ रस है, वहीं रूप है; इसीप्रकार जहाँ ज्ञान है, वहाँ दर्शन है, जहाँ दर्शन है, वहाँ ज्ञान है; अतः रूप और रस तथा ज्ञान और दर्शन अन्य-अन्य तो हैं, पर पृथक्-पृथक् नहीं। ध्यान रहे, 'भिन्न' शब्द का प्रयोग अन्यता के अर्थ में भी होता है और पृथकता के अर्थ में भी। अतः भिन्न शब्द का अर्थ करते समय इस बात की सावधानी अत्यन्त आवश्यक है कि भिन्न शब्द सन्दर्भानुसार किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

गुण और गुणी (द्रव्य) के बीच भी अन्यता ही होती है, पृथकता नहीं, अतः सत्ता (गुण) और द्रव्य (गुणी) में कथंचित् अन्यपना है, पृथकपना नहीं। सत्ता द्रव्य से अन्य भी है और अनन्य भी; पर पृथक् नहीं।

यद्यपि इस अधिकार में वस्तु के सामान्यस्वरूप का ही प्रतिपादन है, तथापि प्रयोजनभूत आध्यात्मिक प्रेरणा सर्वत्र विद्यमान है। अधिकार के आरम्भ में 'पज्जयमूढ़ा हि परसमया'[1] – पर्यायमूढ़ जीव परसमय हैं', 'जो पज्जएसु णिरदा जीवा पर समइग त्ति णिद्दिट्ठा[2] – जो जीव पर्यायों में लीन हैं उन्हें परसमय कहा गया है।' – इसप्रकार की पर्यायों पर से दृष्टि हटाने की प्रेरणा देनेवाली अनेक सूक्तियाँ दी गई हैं।

वस्तु के सामान्य स्वरूप के प्रतिपादक इस अधिकार का समापन करते हुए टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

"द्रव्यान्तरव्यतिकरापदपसारितात्मा
सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-
लुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः॥[3]

उद्दण्ड मोह की लक्ष्मी को लूट लेनेवाले, उत्कट विवेक के द्वारा आत्मतत्त्व को प्रकाशित करनेवाले शुद्धनय ने आत्मा को अन्य द्रव्यों

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ९३

[2] प्रवचनसार, गाथा ९४

[3] प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका, कलश ७

से पृथक् कर लिया है तथा समस्त विशेषों को सामान्य में लीन कर लिया है।"

इस छन्द में पर से पृथक् एवं सामान्य में लीन विशेषों से भरित आत्मा को व्यक्त करनेवाले ज्ञान के अंश को शुद्धनय कहकर आत्मा की आराधना की पावन प्रेरणा दी गई है।

इसके बाद १२७वीं गाथा से १४४वीं गाथा तक चलने वाले द्रव्यविशेषाधिकार में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल – इन छह द्रव्यों को जीव-अजीव, मूर्त्त-अमूर्त्त, लोक-अलोक, क्रियावान-भाववान, सप्रदेशी-अप्रदेशी आदि युग्मों में विभाजित कर समझाया गया है।

इसके बाद १४५वीं गाथा से ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार आरम्भ होता है, जो २००वीं गाथा पर जाकर समाप्त होता है। इस अधिकार को आरम्भ करते हुए टीकाकार अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

"अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति[1]–

इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व कहकर, अब ज्ञान और ज्ञेय के द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुए, आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं।"

उक्त पंक्ति में एकदम साफ-साफ लिखा है कि 'इसप्रकार ज्ञेय-तत्त्व कहकर'। इससे एकदम स्पष्ट है कि ज्ञेयाधिकार यहाँ समाप्त हो जाता है। फिर भी ज्ञान और ज्ञेय के बीच भेदविज्ञान करानेवाला यह अधिकार ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में सम्मिलित करना ही आचार्य अमृतचन्द्र को अभीष्ट है। २००वीं गाथा के बाद के छन्दों एवं अन्तिम पंक्ति से यह बात एकदम स्पष्ट है।

भेदज्ञान की मुख्यता से लिखा गया होने से यह अध्यात्म का अधिकार है। इसमें ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का निरूपण इसप्रकार

---

[1] प्रवचनसार गाथा १४५ की उत्थानिका

किया गया है कि जिससे भेदविज्ञान की उत्पत्ति हो। देह क्या है, आत्मा क्या है, इन दोनों का सम्बन्ध कब से है, कैसे है? आदि बातों को विस्तार से समझाते हुए अन्त में कहते हैं कि ज्ञानी तो ऐसा विचारता है :-

"णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥
देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं॥
णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स॥[1]

न मैं देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी ही हूँ; मैं इनका कारण भी नहीं हूँ, कर्त्ता भी नहीं हूँ, करानेवाला भी नहीं हूँ तथा करनेवाले का अनुमोदन करनेवाला भी नहीं हूँ।

देह, मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक कहे गये हैं। ये पुद्गल-द्रव्य परमाणुओं के पिंड है।

मैं पुद्गलद्रव्यमय नहीं हूँ और वे पुद्गलद्रव्य मेरे द्वारा पिण्डरूप भी नहीं किए गये हैं; अतः मैं देह नहीं हूँ तथा देह का कर्त्ता भी नहीं हूँ।"

इसी अधिकार में वह महत्त्वपूर्ण गाथा भी है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रंथराजों में पाई जाती है और पर से भिन्न आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली है। वह गाथा इसप्रकार है :-

"अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥[2]

भगवान आत्मा (जीव) में न रस है, न रूप है, न गंध है, न स्पर्श है, न शब्द है; अतः यह आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है। रूप, रस, गंध,

[1] प्रवचनसार, गाथा १६० से १६२

[2] प्रवचनसार, गाथा १७२

स्पर्श और शब्द पुद्गलद्रव्य में पाये जानेवाले गुण-पर्याय हैं और जीव उनसे भिन्न है; अतः उनका जीव में होना संभव नहीं है। अनिर्दिष्ट संस्थान और चेतना गुणवाले इस अव्यक्त भगवान आत्मा को अलिंगग्रहण जानो।"

यहाँ 'अलिंगग्रहण' शब्द के आचार्य अमृतचन्द्र ने वीस अर्थ किए हैं, जो मूलतः पठनीय हैं। 'अलिंगग्रहण' के वीस अर्थों पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन भी प्रकाशित हुए हैं, वे भी मूलतः स्वाध्याय करने योग्य हैं।

भेदविज्ञान के अभाव में भावकर्म (मोह-राग-द्वेष), द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) एवं नोकर्म (शरीरादि) से बंधे इस आत्मा को बंधन और बंधन से मुक्ति का मार्ग बतलाते हुए निष्कर्ष के रूप में आचार्यदेव कहते हैं :-

"रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥[1]

रागी आत्मा कर्म बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। निश्चय से बंध की प्रक्रिया का सार इतना ही है।"

इसीप्रकार की एक गाथा समयसार में भी आती है।[2]

अधिकार का अन्त करते हुए आचार्यदेव लिखते हैं :-

"तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि ॥[3]

इसप्रकार ज्ञायकस्वभावी आत्मा को जानकर मैं निर्ममत्व में स्थित रहता हुआ ममताभाव का त्याग करता हूँ।"

आचार्यदेव 'मैं ममता का त्याग करता हूँ' – ऐसा कहकर मुमुक्षु बन्धुओं को ममता का त्याग करने की पावन प्रेरणा दे रहे हैं।

---

[1] समयसार, गाथा १७९
[2] समयसार, गाथा १५०
[3] प्रवचनसार, गाथा २००

(३) चरणानुयोगसूचक चूलिका

प्रवचनसार की मूल विपयवस्तु ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन एवं ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन महाधिकारों में ही समाप्त हो जाती है। इस सन्दर्भ में आचार्य जयसेन का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :-

"कार्यं प्रत्यत्रैव ग्रन्थः समाप्त इति ज्ञातव्यम्। कस्मादिति चेत्। 'उवसंपयामि सम्मं' इति प्रतिज्ञासमाप्तेः।[1]

कार्य के अनुसार ग्रन्थ यहीं समाप्त हो जाता है, क्योंकि 'मैं साम्य को प्राप्त करता हूँ'– इस प्रतिज्ञा की समाप्ति यहाँ हो जाती है।"

इस अधिकार की टीका आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :-

"अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका।

अब दूसरों के लिए चरणानुयोग सूचक चूलिका लिखते हैं।"

इसे वे ग्रन्थ का मूल अंश न मानकर चूलिका मानते हैं। चूलिका शब्द का अर्थ आचार्य जयसेन समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार देते हैं :-

"विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिका शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।[2]

विशेष का व्याख्यान, उक्त या अनुक्त व्याख्यान अथवा उक्तानुक्त अर्थ का संक्षिप्त व्याख्यान – इसप्रकार 'चूलिका' शब्द का अर्थ उक्त तीन प्रकार से जानना चाहिये।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि चारित्र के धनी आचार्यदेव सम्यग्दर्शन-ज्ञान की निमित्तभूत वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित कर शिष्यों को चारित्र धारण करने की प्रेरणा देने के लिए इस अधिकार की रचना करते हैं।

---

[1] प्रवचनसार : तात्पर्यवृत्ति टीका, चारित्राधिकार की पातनिका

[2] समयसार गाथा ३२१ की तात्पर्यवृत्ति टीका

इस बात की पुष्टि इस अधिकार की मंगलाचरण की गाथा से भी होती है । मंगलाचरण की गाथा इसप्रकार है :–

**"एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ।।[1]**

यदि दुखों से मुक्त होना चाहते हो तो पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धों, जिनवरवृषभ अरहंतों एवं श्रमणों को नमस्कार कर श्रमणपना अंगीकार करो ।"

इसके तत्काल बाद वे श्रामण्य अंगीकार करने की विधि का व्याख्यान करते हैं । इससे सिद्ध होता है कि वे गृहस्थ शिष्यों को श्रामण्य अंगीकार कराने के उद्देश्य से ही इस अधिकार की रचना करते हैं ।

इस चरणानुयोगसूचक चूलिका में चार अधिकार हैं :–

(१) आचरणप्रज्ञापन (२) मोक्षमार्गप्रज्ञापन
(३) शुभोपयोगप्रज्ञापन (४) पंचरत्नप्रज्ञापन

गाथा २०१ से २३१ तक चलनेवाले आचरणप्रज्ञापन नामक इस अधिकार में सर्वप्रथम श्रामण्य (मुनिधर्म) अंगीकार करने की विधि का उल्लेख है, जो मूलतः पठनीय है । इसके पश्चात् श्रमणों के अट्ठाईस मूलगुणों का स्वरूप बताते हुए श्रामण्य के छेद पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है ।

छेद दो प्रकार से होता है :– अंतरंग छेद एवं वहिरंग छेद । शुद्धोपयोग का हनन होना अंतरंग छेद है और अपने निमित्त से दूसरों के प्राणों का विच्छेद होना वहिरंग छेद है ।

इस सन्दर्भ में निम्नांकित गाथाएँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं :–

**"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।।[2]**

[1] प्रवचनसार, गाथा २०१

[2] प्रवचनसार, गाथा २१७

जीव मरे चाहे न मरे, पर अयत्नाचार प्रवृत्ति वाले के हिंसा होती ही है। यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले के मात्र बाह्य हिंसा से बंध नहीं होता।"

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं॥[1]

कायचेष्टापूर्वक जीवों के मरने पर बंध होता है या नहीं होता है, किन्तु उपधि (परिग्रह) से निश्चित बंध होता है। यही कारण है कि श्रमण सर्व परिग्रह के त्यागी होते हैं।"

इसके बाद उपधित्याग के सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा की गई है। इसी के अन्तर्गत युक्ताहार-विहार एवं उत्सर्ग मार्ग व अपवाद मार्ग की भी चर्चा हुई है। यह सम्पूर्ण प्रकरण मूलत: पठनीय है।

अन्त में उत्सर्ग मार्ग एवं अपवाद मार्ग की मैत्री बताते हुए आचार्यदेव लिखते हैं :-

"बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि॥[2]

बाल, वृद्ध, थके हुए एवं रोगग्रस्त मुनिराज शुद्धोपयोगरूप मूलधर्म का उच्छेद न हो – इस बात का ध्यान रखकर उत्सर्ग या अपवाद जो भी मार्ग पर चलना संभव हो, सहज हो, उसी पर चले।"

तात्पर्य यह है कि वे उत्सर्ग मार्ग का हठ न करें। क्षेत्र-काल एवं अपने देहादिक की स्थिति देखकर आचरण करें, पर इस बात का ध्यान अवश्य रखें कि शुद्धोपयोगरूप मूलधर्म का उच्छेद न हो जावे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में जहाँ एक ओर शिथिलाचार के विरुद्ध चेतावनी दी गई है, वहीं अनावश्यक कठोर आचरण के विरुद्ध भी सावधान किया है।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा २१९

[2] प्रवचनसार, गाथा २३०

इसके बाद २३२वीं गाथा से २४४वीं गाथा तक चलनेवाले मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार में सर्वाधिक बल आगमाभ्यास पर दिया गया है। अधिकार का आरंभ ही 'आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा' सूक्ति से हुआ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि एकाग्रता के बिना श्रामण्य नहीं होता और एकाग्रता उसे ही होती है, जिसने आगम के अभ्यास द्वारा पदार्थों का निश्चय किया है, अतः आगम का अभ्यास ही सर्वप्रथम कर्तव्य है।

साधु को आगमचक्षु कहा गया है। आगमरूपी चक्षु के उपयोग बिना स्व-पर-भेदविज्ञान संभव नहीं। गुण-पर्याय सहित सम्पूर्ण पदार्थ आगम से ही जाने जाते हैं। आगमानुसार दृष्टि से सम्पन्न पुरुष ही संयमी होते हैं।

इसी अधिकार में वह महत्त्वपूर्ण गाथा भी आती है, जिसका भावानुवाद पंडित दौलतरामजी ने छहढाला की निम्नांकित पंक्तियों में किया है :—

"कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान विन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ॥[1]

वह मूल गाथा इसप्रकार है :—

"जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥[2]

जो कर्म अज्ञानीजन लक्ष-कोटि (दश खरब) भवों में खपाता है, वह कर्म ज्ञानी तीन प्रकार से गुप्त होने से उच्छ्वास मात्र में खपा देता है।"

यद्यपि इस अधिकार में आगमज्ञान की अद्‌भुत महिमा गाई है, तथापि आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान को निरर्थक भी बताया है; जो इसप्रकार है :—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥[3]

---

[1] छहढाला, चतुर्थ ढाल, छन्द ५

[2] प्रवचनसार, गाथा २३८

[3] प्रवचनसार, गाथा २३९

जिसके शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा हो, वह यदि सर्वागम का धारी हो तो भी वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में आत्मज्ञान सहित आगमज्ञान के ही गीत गाये हैं।

अन्त में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न श्रमणों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं :-

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥[1]

जिसे शत्रु और बंधु वर्ग समान हैं, सुख-दुःख समान हैं, प्रशंसा-निन्दा समान हैं, मिट्टी का ढेला एवं स्वर्ण समान हैं एवं जीवन और मरण भी समान है, वही सच्चा श्रमण है।"

इसी गाथा के आधार पर पंडित दौलतरामजी लिखते हैं :-

"अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निन्दन-थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन ॥[2]

गाथा २४५ से शुभोपयोगप्रज्ञापन अधिकार आरंभ होता है, जो २७०वीं गाथा तक चलता है। यद्यपि ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में इस विषय से संबंधित शुभपरिणाम अधिकार आ चुका है, तथापि यहाँ भावलिंगी सन्तों के होनेवाले शुभोपयोग की दृष्टि से निरूपण है। यद्यपि यह शुभोपयोग भी आस्रव का ही कारण है, तथापि यह भावलिंगी सन्तों के भी पाया जाता है।

इस अधिकार में मुख्यतः यही बताया है कि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते रहनेवाले सच्चे भावलिंगी मुनिराजों की भूमिका में किसप्रकार का शुभ परिणाम संभव है और किसप्रकार का शुभ परिणाम संभव नहीं है। मुनिधर्म का सच्चा स्वरूप समझने के इच्छुक महानुभावों को इस प्रकरण का अध्ययन गहराई से करना चाहिए।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा २४१

[2] छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ६

आत्मानुभवी वीतरागी सन्तों के भी शुभोपयोग के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के रूप में निम्नांकित गाथाएँ द्रष्टव्य हैं :–

"वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ।।[1]

श्रमणों के प्रति वंदन-नमस्कार सहित अभ्युत्थान और अनुगमन रूप विनीत प्रवृत्ति तथा उनका श्रम दूर करने रूप रागचर्या श्रमणों के लिए निन्दित नहीं है ।"

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ।।[2]

शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त रोगी, गुरु, बाल या वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से शुद्धात्मपरिणतिशून्य शुभोपयुक्त लौकिक-जनों के साथ बातचीत करना निन्दित नहीं है, किन्तु अन्य निमित्त से लौकिक जनों से बातचीत करना निन्दित है ।"

उक्त दोनों ही गाथाओं में एक बात जोर देकर कही गई है कि अपने से बड़े शुद्धोपयोगी सन्तों की यथोचित विनय संबंधी शुभराग या उनकी वैयावृत्ति आदि के लिए लौकिकजनों से चर्चा भी निन्दित नहीं है । तात्पर्य यह है कि ये कार्य शुद्धोपयोगरूप धर्म के समान अभिनन्दनीय अर्थात् उपादेय तो नहीं, पर निन्दनीय भी नहीं है, क्षमा के योग्य अपराध हैं । वास्तविक धर्म तो शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म ही है, ये तो शुद्धोपयोग के सहचारी होने से व्यवहार धर्म कहे जाते हैं । ये संवर-निर्जरारूप नहीं, आस्रवरूप ही हैं ।

इनके अतिरिक्त गृहस्थोचित शुभराग तो मुनियों के लिए सर्वथा हेय ही है ।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा २४७

[2] प्रवचनसार, गाथा २५३

लौकिकजनों के सम्पर्क में रहनेवाले श्रमणों के लिए आचार्य कुन्दकुन्द का निम्नांकित आदेश ध्यान देने योग्य है :—

"णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि ।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवेदि ।।[1]

जो जिनसूत्रों के मर्म को जानता है, जिसकी कषायें उपशमित हैं, जो तप में भी अधिक है; पर यदि वह लौकिक जनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता है तो वह संयमी नहीं है ।"

लौकिकजन की परिभाषा लिखते हुए वे लिखते हैं :—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं ।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि ।।[2]

निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित होने के कारण जो संयम-तपयुक्त भी हो, पर यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्तता हो तो उसे लौकिक कहते हैं ।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में शुद्धोपयोगी भाव लिंगी सन्तों के शुभोपयोग की क्या मर्यादायें हैं — इस पर सर्वाङ्गीण प्रकाश डाला गया है ।

२७१वीं से २७५वीं गाथा तक की अन्तिम पाँच गाथाएँ पंचरत्न के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनमें मुनिराजों को ही संसारतत्त्व एवं मुनिराजों को ही मोक्षतत्त्व और मोक्ष के साधन तत्त्व कहा है । वस्तु के अयथार्थ रूप को ग्रहण करनेवाले अनन्त संसारी श्रमणाभास ही संसारतत्त्व हैं तथा वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञाता आत्मानुभवी शुद्धोपयोगी श्रमण ही मोक्षतत्त्व हैं, मोक्ष के साधनतत्त्व हैं ।

सर्वान्त में मंगल आशीर्वाद देते हुए आचार्य कहते हैं कि जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों के सार इस 'प्रवचनसार' ग्रन्थ का भलीभाँति अध्ययन करेगा, वह प्रवचन के सार शुद्धात्मा को अवश्य प्राप्त करेगा ।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा २६८

[2] प्रवचनसार, गाथा २६९

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार २७५ गाथाओं में समाप्त हो जाता है। इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्र अपनी तत्त्वदीपिका टीका में परिशिष्ट के रूप में ४७ नयों की चर्चा करते हैं, जो मूलतः पठनीय है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार की आत्मख्याति नामक टीका के अन्त में समागत ४७ शक्तियों एवं प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका के अन्त में समागत ४७ नयों का निरूपण आचार्य अमृतचन्द्र की अपनी विशेषता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अपनी अभूतपूर्व विषयवस्तु एवं प्रौढ़ प्रतिपादन-शैली के कारण यह प्रवचनसार परमागम आज भी अद्वितीय है। मोह और क्षोभ से रहित साम्यभावरूप आत्मपरिणामों की प्राप्ति का मार्गदर्शक यह प्रवचनसार ग्रन्थ मात्र विद्वानों के अध्ययन की ही वस्तु नहीं है, अपितु इसका गहराई से अध्ययन करना प्रत्येक आत्मार्थी का प्राथमिक कर्तव्य है।

जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के सम्यक्स्वरूप को जानने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द की यह कृति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपयोगी है।

जन-जन की वस्तु इस अद्भुत कृति का गहराई से अध्ययन कर मुझ सहित प्रत्येक आत्मार्थीजन आचार्य कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र के समान ही साम्यभाव को प्राप्त हों – इस पावन भावना से विराम लेता हूँ।

चतुर्थ अध्याय

पंचास्तिकायसंग्रह

आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य द्वारा प्रणीत 'पंचास्तिकाय-संग्रह' नामक यह ग्रन्थ जिन-सिद्धान्त और जिन-अध्यात्म का प्रवेश द्वार है। इसमें जिनागम में प्रतिपादित द्रव्यव्यवस्था व पदार्थव्यवस्था का संक्षेप में प्राथमिक परिचय दिया गया है।

जिनागम में प्रतिपादित द्रव्य एवं पदार्थ व्यवस्था की सम्यक् जानकारी विना जिन-सिद्धान्त और जिन-अध्यात्म में प्रवेश पाना संभव नहीं है; अतः यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' नामक ग्रन्थ सर्वप्रथम स्वाध्याय करने योग्य है।

इसकी रचना भी शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि वाले प्राथमिक शिष्यों के लिए ही की गई थी, जैसा कि जयसेनाचार्य के निम्नांकित कथन से स्पष्ट है :—

"अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे·······।[1]

अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेपरुचि वाले शिष्यों को समझाने के लिए विरचित पंचास्तिकायप्राभृत शास्त्र में·······।"

महाश्रमण तीर्थंकरदेव की वाणी दिव्यध्वनि या प्रवचन का सार ही इस ग्रन्थ में संक्षेप में गुम्फित किया गया है। अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा गया है।

---

[1] जयसेनाचार्य कृत पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका का प्रारंभिक अंश

इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं लिखते हैं :-

"मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ।।
एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता ।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ।।[1]

जिनप्रवचन के सारभूत इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' सूत्र को मेरे द्वारा मार्ग की प्रभावना हेतु जिनप्रवचन की भक्ति से प्रेरित होकर ही कहा गया है।

इसप्रकार जिनप्रवचन के सारभूत इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' को जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से मुक्त हो जाता है।"

उक्त प्रथम गाथा (१७३) की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं :-

"परमागमानुरागवेगप्रचलितमनसा संक्षेपतः समस्तवस्तुतत्त्वसूचकत्वादतिविस्तृतस्यापि प्रवचनस्य सारभूतं पंचास्तिकायसंग्रहाभिधानं भगवत्सर्वज्ञोपज्ञत्वात् सूत्रमिदमभिहितं मयेति।

परमागम के अनुराग के वेग से चलायमान मन वाले मुझ कुन्दकुन्द द्वारा भगवान सर्वज्ञ द्वारा कहा गया और समस्त वस्तुतत्त्व का सूचक होने से अत्यन्त विस्तृत जिन-प्रवचन का सारभूत यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' नामक सूत्र ग्रन्थ संक्षेप में कहा गया है।"

इस ग्रन्थ के स्पष्टरूप से दो खण्ड हैं, जिन्हें 'समयव्याख्या' नामक टीका में आचार्य अमृतचन्द्र 'श्रुतस्कन्ध' नाम से अभिहित करते हैं, जैसा कि इन दोनों खण्डों की उपसंहारात्मक अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है।[2]

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १७३ एवं १०३

[2] (i) इति समयव्याख्यायामंतर्नीतषड्द्रव्यपंचास्तिकायवर्णनः प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

(ii) इति समयव्याख्यायां नवपदार्थपुरस्सरमोक्षमार्गप्रपंचवर्णनो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

प्रथम खण्ड (श्रुतस्कन्ध) में षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय का वर्णन है और द्वितीय खण्ड में नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है।

प्रथम और द्वितीय खण्ड की सन्धि स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रथम खण्ड के अन्त में और दूसरे खण्ड के आरम्भ में एक छन्द दिया है, जो इसप्रकार है :-

"द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन शुद्धं बुधानामिह तत्त्वमुक्तम्।
पदार्थभंगेन कृतावतारं प्रकीर्त्यते संप्रति वर्त्म तस्य ॥[1]

प्रथम खण्ड में अब तक द्रव्यस्वरूप के प्रतिपादन द्वारा बुधपुरुषों को शुद्धतत्त्व का उपदेश दिया गया। अब पदार्थभेद द्वारा आरम्भ करके उस शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग दिखाया जाता है।"

उक्त छोटे से छन्द में दोनों खण्डों में प्रतिपाद्य विषय को तो स्पष्ट किया ही गया है, साथ ही दोनों के मूल प्रयोजन को भी स्पष्ट कर दिया गया है। प्रथम खण्ड के समस्त प्रतिपादन का उद्देश्य शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक् ज्ञान कराना है; तथा दूसरे खण्ड के प्रतिपादन का उद्देश्य पदार्थविज्ञान पूर्वक मुक्ति का मार्ग अर्थात् उक्त शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग दर्शाना है।

उक्त दोनों खण्ड इतने विभक्त हैं कि दो स्वतन्त्र ग्रन्थ से प्रतीत होते हैं। दोनों के एक जैसे स्वतन्त्र मंगलाचरण किये गये हैं। प्रथम खण्ड समाप्त करते हुए उपसंहार भी इसप्रकार कर दिया गया है कि जैसे ग्रन्थ समाप्त ही हो गया हो। प्रथम खण्ड की समाप्ति पर ग्रन्थ के अध्ययन का फल भी निर्दिष्ट कर दिया गया है। दूसरा खण्ड इसप्रकार आरम्भ किया गया है, मानों ग्रन्थ का ही आरम्भ हो रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयव्याख्या' नामक टीका के मंगलाचरण के साथ ही तीन श्लोकों द्वारा पंचास्तिकायसंग्रह के प्रतिपाद्य को स्पष्ट कर दिया है, जो कि इसप्रकार है :-

"पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम् ॥
जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।
ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता ॥

---

[1] समयव्याख्या, छन्द ७

ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना ।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा ॥[1]

यहाँ सबसे पहले सूत्रकर्ता आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने मूल पदार्थों का पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्य के रूप में निरूपण किया है ।

इसके बाद दूसरे खण्ड में जीव और अजीव – इन दो की पर्यायों रूप नव पदार्थों की विभिन्न प्रकार की व्यवस्था का प्रतिपादन किया है ।

इसके बाद दूसरे खण्ड के अन्त में चूलिका के रूप में तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक (पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य एवं नवपदार्थों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक) त्रयात्मक मार्ग (सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की एकता) से कल्याणस्वरूप उत्तम मोक्षप्राप्ति कही है ।"

तात्पर्यवृत्तिकार आचार्य जयसेन इस ग्रन्थ को तीन महा-अधिकारों में विभक्त करते हैं । आचार्य जयसेन द्वारा विभाजित प्रथम महाधिकार तो आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा विभाजित प्रथम श्रुतस्कन्ध के अनुसार ही है । अमृतचन्द्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को जयसेनाचार्य ने द्वितीय एवं तृतीय – ऐसे दो महाधिकारों में विभक्त कर दिया है । उसमें भी कोई विशेष बात नहीं है । बात मात्र इतनी ही है कि जिसे अमृतचन्द्र 'मोक्षमार्गप्रपञ्चचूलिका' कहते हैं, उसे ही जयसेनाचार्य तृतीय महा-अधिकार कहते हैं ।

प्रथम श्रुतस्कन्ध (प्रथम खण्ड) या प्रथम महाधिकार में सर्वप्रथम छब्बीस गाथाओं में मंगलाचरण एवं ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा के उपरान्त षट्द्रव्य एवं पंचास्तिकाय के सामान्य व्याख्यानरूप पीठिका दी गई है ।

इस पीठिका में जीवादि पाँच अस्तिकायों का अस्तित्व और कायत्व जिस सुन्दरता के साथ बताया गया है, वह मूलतः पठनीय है । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व अथवा गुण-पर्यायत्व के कारण अस्तित्व एवं बहुप्रदेशत्व के कारण कायत्व सिद्ध किया गया है ।

'अस्तिकाय' शब्द अस्तित्व और कायत्व का द्योतक है । अस्तित्व +कायत्व=अस्तिकाय । इसप्रकार 'अस्तिकाय' शब्द अस्तित्व और

---

[1] समयव्याख्या, छन्द ४, ५ व ६

कायत्व का द्योतक है। अस्तित्व को सत्ता अथवा सत् भी कहते हैं। यही सत् द्रव्य का लक्षण कहा गया है, जो कि उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से युक्त होता है। इसी सत् या सत्ता की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ध्यान रहे, इसी सत् — सत्ता या अस्तित्व को द्रव्य का लक्षण माना गया है, कायत्व को नहीं। द्रव्य के लक्षण में कायत्व को सम्मिलित कर लेने पर कालद्रव्य द्रव्य ही नहीं रहता, क्योंकि उसमें कायत्व (बहुप्रदेशीपना) नहीं है।

इसके बाद १२वीं-१३वीं गाथा में गुणों और पर्यायों का द्रव्य के साथ भेदाभेद दर्शाया गया है और १४वीं गाथा में तत्सम्बन्धी सप्तभंगी स्पष्ट की गई है। तदुपरान्त सत् का नाश और असत् का उत्पाद सम्बन्धी स्पष्टीकरणों के साथ २०वीं गाथा तक पंचास्तिकाय द्रव्यों का सामान्य निरूपण हो जाने के बाद २६वीं गाथा तक कालद्रव्य का निरूपण किया गया है।

इसके बाद छह द्रव्यों एवं पंचास्तिकायों का विशेष व्याख्यान आरम्भ होता है। सबसे पहले जीवद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है, जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने से सर्वाधिक स्थान लिए हुए है और ७३वीं गाथा तक चलता है। ४७ गाथाओं में फैले इस प्रकरण में आत्मा के स्वरूप को जीवत्व, चेतयित्व, उपयोगत्व, प्रभुत्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, देहप्रमाणत्व, अमूर्तत्व और कर्मसंयुक्तत्व के रूप में स्पष्ट किया गया है।

उक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट आत्मा को संसार और मुक्त — इन दोनों अवस्थाओं पर घटित करके समझाया गया है।

इसके बाद ९ गाथाओं में पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का वर्णन है और ७ गाथाओं में धर्म-अधर्म दोनों ही द्रव्यास्तिकायों का वर्णन है तथा ७ गाथाओं में ही आकाशद्रव्यास्तिकाय का निरूपण किया गया है। इसके बाद ३ गाथाओं की चूलिका है, जिसमें उक्त पंचास्तिकायों का मूर्तत्व-अमूर्तत्व, चेतनत्व-अचेतनत्व एवं सक्रियत्व-निष्क्रियत्व बतलाया गया है।

तदनन्तर ३ गाथाओं में कालद्रव्य का वर्णन कर अन्तिम २ गाथाओं में प्रथम श्रुतस्कन्ध अथवा प्रथम महा-अधिकार का उपसंहार करके इसके अध्ययन का फल बताया गया है।

इसप्रकार १०४ गाथाओं का प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त होता है।

१०५वीं गाथा से द्वितीय श्रुतस्कन्ध आरम्भ होता है। प्रथम गाथा (१०५) में मंगलाचरण के उपरान्त दूसरी व तीसरी गाथा (१०६ व १०७) में मोक्ष के मार्गस्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का निरूपण किया गया है। आगे चलकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान के विषयभूत नवपदार्थों का वर्णन आरम्भ होता है, जो कि इस खण्ड का मूल प्रतिपाद्य है। मोक्षमार्ग का कथन तो नवपदार्थों के उपोद्घात के लिए किया गया है। इस बात का उल्लेख आचार्य अमृतचन्द्र ने १०७वीं गाथा की टीका के अन्त में स्वयं किया है।

यह प्रारम्भ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र जैसा ही है। उसमें भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान से बात उठाकर उनके विषयभूत जीवादि तत्त्वार्थों का निरूपण किया गया है।

प्रारम्भ तत्त्वार्थसूत्र जैसा होकर भी तत्त्वार्थों का क्रम समयसार के क्रमानुसार ही दिया गया है। तत्त्वार्थों के नाम-क्रम को दर्शानेवाली मूल गाथा इसप्रकार है :–

"जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणं णिज्जरणं बंधो मोक्खो य ते अट्ठा॥[1]

जीव और अजीव दो भाव तथा उनके विशेष पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ये नव पदार्थ हैं।"

इनका निरूपण भी आगे इसी क्रमानुसार है, अतः यह भी नहीं माना जा सकता कि छन्दानुरोधवश यह रखा गया होगा। लगता है आचार्य कुन्दकुन्द को यही क्रम इष्ट है।

१०९वीं गाथा से जीवपदार्थ का निरूपण आरम्भ होता है और १२३वीं गाथा तक चलता है। इसमें सर्वप्रथम जीव के भेद संसारी और मुक्त किये गये हैं। फिर संसारियों के एकेन्द्रियादिक भेदों का वर्णन है।

एकेन्द्रिय के वर्णन में विशेष जानने योग्य बात यह है कि इसमें वायुकायिक और अग्निकायिक को त्रस कहा गया है। यह कथन

[1] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १०८

उनकी हलन-चलन क्रिया देखकर 'त्रसन्तीति त्रसा: – जो चले-फिरे सो त्रस' – इस निरुक्ति के अनुसार किया गया अर्थ ही जानना चाहिए। 'द्वीन्द्रियादय: त्रसा:' – इस तत्वार्थसूत्रवाली परिभाषा को यहाँ घटित नहीं करना चाहिये।

अन्त में सिद्धों की चर्चा है। साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये सब कथन व्यवहार का है, निश्चय से ये सब जीव नहीं हैं।

उक्त कथन करनेवाली मूल गाथा इसप्रकार है :–

"ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवेंति ॥[1]

इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और जिनागम में कथित पृथ्वीकायादि छह प्रकार की कायें भी जीव नहीं हैं, उनमें रहनेवाला ज्ञान ही जीव है – ज्ञानीजनों द्वारा ऐसी ही प्ररूपणा की जाती है।"

१२४वीं गाथा से १२७वीं गाथा तक अजीव पदार्थ का वर्णन है, जिसमें बताया गया है कि सुख-दुःख के ज्ञान तथा हित के उद्यम और अहित के भय से रहित पुद्गल व आकाशादि द्रव्य अजीव हैं। संस्थान, संघात, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि गुण व पर्यायें पुद्गल की हैं; आत्मा तो इनसे भिन्न अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अव्यक्त, इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य एवं अनिर्दिष्ट संस्थानवाला है।

ध्यान रहे, आचार्य कुन्दकुन्द के पाँचों परमागमों में प्राप्त होने वाली 'अरसमरूवमगंधं' आदि गाथा इस पंचास्तिकायसंग्रह की १२७वीं गाथा है और अजीव पदार्थ के व्याख्यान में आई है। इस गाथा की टीका के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

"एवमिह जीवाजीवयोर्वास्तवो भेदः सम्यग्ज्ञानिनां मार्गप्रसिद्ध्यर्थं प्रतिपादित इति।

इसप्रकार यहाँ जीव और अजीव का वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु प्रतिपादित किया गया।"

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १२१

उक्त जीव और अजीव मूलपदार्थों के व्याख्यान के बाद उनके संयोग से निष्पन्न शेष सात पदार्थों के उपोद्घात के लिए तीन गाथाओं में जीवकर्म (भावकर्म) और पुद्गलकर्म (द्रव्यकर्म) के दुश्चक्र का वर्णन किया गया है। इसके बाद चार गाथाओं में पुण्य-पाप पदार्थ का व्याख्यान किया है।

इसके बाद छह गाथाओं (१३५ से १४०) में आस्रव पदार्थ का निरूपण है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आस्रव के कारणों में अरिहंतादि की भक्ति को भी गिनाया है। उक्त प्रकरण में समागत भक्ति के संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :-

"अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वर-विनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।[1]

इसप्रकार का राग मुख्यरूप से मात्र भक्ति की प्रधानता और स्थूल लक्ष्यवाले अज्ञानियों को होता है। उच्च भूमिका में स्थिति न हो तो, तब तक अस्थान का राग रोकने अथवा तीव्ररागज्वर मिटाने के हेतु से कदाचित् ज्ञानियों को भी होता है।"

इसीप्रकार १३७वीं गाथा की 'समयव्याख्या' नामक टीका में समागत अनुकम्पा का स्वरूप भी द्रष्टव्य है :-

"अनुकम्पास्वरूपाख्यानमेतत्। कञ्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमव-लोक्य करुणया तत्प्रतिचिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा। ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदव-लोकनान्मनाग्मनःखेद इति।

यह अनुकम्पा के स्वरूप का कथन है। किसी तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो निचली भूमिका में विचरते हुए स्वयं को विकल्प के

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १३६ की 'समयव्याख्या' टीका

काल में जन्मार्णव में निमग्न जगत को देखकर मन में किंचित् खेद होना है।"

इसके बाद १४१वीं गाथा से तीन गाथाओं में संवर एवं तीन गाथाओं में निर्जरा पदार्थ का निरूपण है। निर्जरा पदार्थ के व्याख्यान में ध्यान पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि सर्वाधिक निर्जरा ध्यान में ही होती है।

इसके बाद तीन गाथाओं में बंध एवं चार गाथाओं में मोक्षपदार्थ का वर्णन है।

जयसेनाचार्य के अनुसार यहाँ द्वितीय महा-अधिकार समाप्त हो जाता है और अब तृतीय महा-अधिकार आरम्भ होता है, पर आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भीतर ही 'मोक्षमार्गप्रपंच-सूचक चूलिका' आरम्भ होती है, जो बीस गाथाओं में समाप्त होती है; और इसके साथ ही ग्रन्थ भी समाप्त हो जाता है।

परमाध्यात्मरस से भरी हुई यह चूलिका ही पंचास्तिकायसंग्रह का प्रयोजनभूत सार है। वस्तुव्यवस्था के प्रतिपादक इस सैद्धान्तिक ग्रन्थ को आध्यात्मिकता प्रदान करनेवाली यह चूलिका ही है।

इसमें स्वचारित्र और परचारित्र – इसप्रकार चारित्र के दो भेद किये हैं, उन्हें ही स्वसमय और परसमय भी कहा गया है। इन स्वचारित्र और परचारित्र की परिभाषा आचार्य अमृतचन्द्र १५६वीं गाथा की टीका में इसप्रकार देते हैं :–

"स्वद्रव्ये शुद्धोपयोगवृत्तिः स्वचरितं, परद्रव्ये सोपरागोपयोग-वृत्तिः परचरितमिति।

स्वद्रव्य में शुद्ध-उपयोगरूप परिणति स्वचारित्र है और परद्रव्य में सोपराग-उपयोगरूप परिणति परचारित्र है।"

स्वचारित्र मोक्षमार्ग है और परचारित्र बंधमार्ग – यह बात १५७ व १५८वीं गाथा में स्पष्टरूप से कही गई है।

पारमेश्वरी तीर्थ प्रवर्तना दोनों नयों के आधीन होने से इसके बाद साधन-साध्य के रूप में व्यवहार और निश्चय – दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से मूलतः पठनीय है। पठनीय ही नहीं, अनुकरणीय है, अनुचरणीय है।

व्यवहारमोक्षमार्ग को साधनरूप से निरूपित करने पर भी उसके प्रति बार-बार सावधान किया गया है :–

"अरहन्तसिद्धचेदियपवयरगगणणारणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि ।।
जस्स हिदएणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि ।। [1]

अरिहंत, सिद्ध, चैत्य (प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्तिसम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वह कर्म का क्षय नहीं करता।

जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति अणुमात्र भी राग वर्तता है, भले ही वह सर्व आगमधर हो, तथापि स्वकीय समय को नहीं जानता।"

अधिक क्या कहें ? आचार्यदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि :–

"सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स ।।[2]

संयम-तप-युक्त होने पर भी नवपदार्थों तथा तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव वर्तता है और सूत्रों के प्रति जिसे रुचि वर्तती है, उस जीव को निर्वाण दूरतर (विशेष दूर) है।"

अन्त में आचार्यदेव उपदेश देते हैं, आदेश देते हैं, सलाह देते हैं, प्रेरणा देते हुए कहते हैं :–

"तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि ।।[3]

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १६६-१६७

[2] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १७०

[3] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १७२

अत: हे मोक्षार्थी जीवो ! कहीं भी किंचित् भी राग मत करो; क्योंकि ऐसा करने से ही वीतराग होकर भवसागर से पार हुआ जाता है ।"

इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :—

"अलं विस्तरेण। स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति ।

अधिक विस्तार करने से क्या लाभ है ? वह वीतरागता जयवंत वर्ते, जो साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से इस शास्त्र का मूल तात्पर्य है ।"

इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा व्यवहाराभासी व निश्चयाभासी का जो मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है तथा जिसके आधार पर ही पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय में इनके स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है, वह आज मुमुक्षु समाज का अत्यधिक प्रिय विषय है एवं अनेक बार मूलत: पठनीय है ।

सर्वान्त में परम-आध्यात्मिक सन्त अमृतचन्द्राचार्य का अकर्तृत्व सूचक निम्नलिखित छन्द भी दर्शनीय है :—

"स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ।।[1]

अपनी शक्ति से जिन्होंने वस्तु का तत्त्व भलीभाँति कहा है, ऐसे उन शब्दों ने यह समयव्याख्या नामक टीका बनाई है; स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्राचार्य का इसमें किंचित् भी कार्य (कर्त्तव्य) नहीं है।"

आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण समस्त उत्तरकालीन आचार्य परम्परा ने किया है। पंचास्तिकाय को आधार बनाकर लिखे गये परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा लिखित द्रव्यसंग्रह सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ है। द्रव्यसंग्रह के अधिक प्रचलित होने का कारण भी पंचास्तिकायसंग्रह की सम्पूर्ण विषयवस्तु को उसीरूप में अतिसंक्षेप में प्रस्तुत कर देने में समाहित है।

---

[1] समयव्याख्या, छन्द ८

द्रव्यसंग्रह में भी पंचास्तिकायसंग्रह के समान ही अधिकारों का विभाजन किया गया है। अधिकारों के नाम भी वैसे ही हैं। दोनों के नाम के आगे 'संग्रह' शब्द का प्रयोग है। यद्यपि एक का नाम द्रव्यसंग्रह और दूसरे का नाम पंचास्तिकायसंग्रह है, तथापि दोनों के प्रथम अधिकार में पंचास्तिकायों और द्रव्यों का एक-सा ही वर्णन है।

जीवास्तिकाय और अजीवास्तिकाय द्रव्य का वर्णन जिस रूप में पंचास्तिकायसंग्रह में है, उसी रूप में द्रव्यसंग्रह में भी पाया जाता है। अन्तर यह है कि दूसरे अधिकार में जब नव पदार्थों का वर्णन होता है तो द्रव्यसंग्रह में उन्हें छोड़ ही दिया गया है, सीधे आस्रव पदार्थ का वर्णन आरम्भ कर दिया है। जीव-अजीव का वर्णन द्रव्यों के सन्दर्भ में हो चुका है — यह मानकर संक्षिप्त करने के लोभ में ही उन्हें छोड़ा गया है।

एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि नव पदार्थों का क्रम द्रव्यसंग्रह में पंचास्तिकायसंग्रह के अनुसार न रखकर तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार रखा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित पंचास्तिकायसंग्रह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है; जिसके अध्ययन बिना समयसार, प्रवचनसार जैसे महान् ग्रन्थों का मर्म समझ पाना सहज सम्भव नहीं है; तथापि उनकी अपेक्षा इसके कम प्रचलित होने का कारण द्रव्यसंग्रह द्वारा इसकी विषय-वस्तु सम्बन्धी जानकारी की पूर्ति हो जाना ही रहा है।

समयसार के समान ही निरन्तर इसके पठन-पाठन की आवश्यकता है। आचार्य अमृतचन्द्र की 'समयव्याख्या' टीका से अलंकृत इस पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ के अध्ययन-मनन में वस्तु-व्यवस्था के सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ जो आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होगा, वह अन्यत्र असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है; आत्मार्थी बन्धुओं से हार्दिक अनुरोध है कि वे इसका स्वाध्याय अवश्य करें; एक बार नहीं, बार-बार करें।

मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इसके अध्ययन-मनन से उन्हें आत्मशान्ति का मार्ग अवश्य प्राप्त होगा।

सभी आत्मार्थी इसका अध्ययन-मनन कर सुखी व शान्त हों — इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

पंचास्तिकायसंग्रह में प्रतिपादित विषय-वस्तु को निम्नांकित चार्ट द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है :–
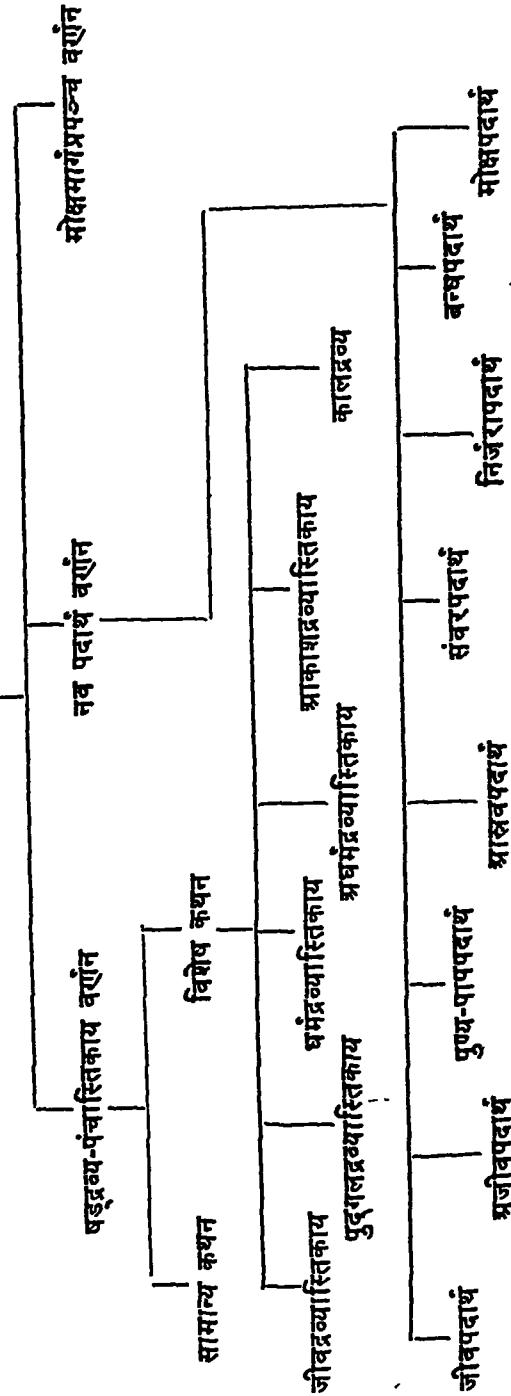
पंचम अध्याय

नियमसार

आचार्य भगवन्तों द्वारा शास्त्रों की रचना आत्मार्थीजनों के हितार्थ की जाती रही है। व्यक्तिविशेष के संबोधनार्थ भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। स्वान्तःसुखाय या भक्तिवश भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं।

यह नियमसार नामक परमागम न तो व्यक्तिविशेष के संबोधनार्थ ही लिखा गया है और न सामान्यरूप से आत्मार्थीजनों के हितार्थ इसका प्रणयन हुआ है, भक्ति भी इसका हेतु नहीं है। इस ग्रन्थाधिराज का प्रणयन आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दैनिक पाठ के लिये किया था। इसमें जहाँ एक ओर परमवीतरागी विरक्त सन्त की अन्तरोन्मुखी पावन भावना का तरल प्रवाह है तो दूसरी ओर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ का उद्दाम वेग भी है। यह अपने प्रकार की अनुपम बेजोड़ कृति है।

यह ग्रन्थाधिराज तत्त्वोपदेशक एवं प्रशासक पट्टाचार्य कुन्दकुन्द की रचना नहीं; यह तो इन सबसे पूर्णतः विरक्त, परम परिणामिक भाव में ही अनुरक्त, वीतरागी सन्त, अन्तरोन्मुखी कुन्दकुन्द की कृति है। इसमें कुन्दकुन्द का अन्तरङ्ग व्यक्त हुआ है। उपदेश, आदेश, अनुशासन-प्रशासन कुन्दकुन्द की मजबूरी थी, जीवन नहीं। उनका हार्द नियमसार है।

'सन्तों का कुछ भी गुप्त नहीं होता' – इस रीति के कारण ही महाभाग्य से यह आत्मार्थीजनों को उपलब्ध हो गया है। इसकी प्रतिपादन शैली अन्तरोन्मुखी भावनाप्रधान है। सद्भाग्य से इसे पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे अन्तरोन्मुखी, भावनाप्रधान, परमवैरागी टीकाकार भी उपलब्ध हो गये हैं; जिन्होंने इस पर समरसी टीका एवं उसके बीच-बीच में वैराग्यरस से ओत-प्रोत छन्द लिखकर आत्मोन्मुखी आत्मार्थीजनों का अनन्त-अनन्त उपकार किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि नियमसार नामक परमागम[1] की रचना दिगम्बर परम्परा के सर्वश्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्पूर्णतः स्वान्तःसुखाय ही की है।

जैसा कि उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट है :-

"णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥[2]

पूर्वापर दोषरहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निजभावना-निमित्त से इस नियमसार नामक शास्त्र की रचना की है।"

इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसे भागवतशास्त्र कहते हैं तथा इसके अध्ययन का फल शाश्वतसुख की प्राप्ति बताते हुए कहते हैं :-

"भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मक-निर्व्याबाधनिरंतरानंगपरमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरंजननिज-कारणपरमात्मभावनाकारणं समस्तनयनिचयांचितं पंचमगतिहेतुभूतं पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये खलु निश्चय-व्यवहारनयोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्र-हृदयवेदिनःपरमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिणःपरित्यक्तबाह्याभ्यन्तर-चतुर्विंशतिपरिग्रहप्रपंचाः त्रिकालनिरूपाधिस्वरूपनिरतनिजकारण-परमात्मस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानचरणात्मकभेदोपचारकल्पनानिरपेक्ष-स्वस्थरत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति।[3]

यह नियमसार नामक भागवतशास्त्र निर्वाणसुन्दरी से उत्पन्न, परमवीतरागात्मक, निराबाध, अनंग परमानन्द को निरन्तर देनेवाला है; निरतिशय, नित्य, शुद्ध, निरंजन, निजकारणपरमात्मा की भावना का कारण है; समस्तनयों के समूह से शोभित है; पंचमगति का हेतु

[1] नियमसार के टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने अनेक स्थानों पर नियमसार को परमागम कहा है। जैसे – छन्द ५,६ एवं गाथा १ की टीका में।

[2] नियमसार, गाथा १८७

[3] नियमसार गाथा १८७ की तात्पर्यवृति टीका

है तथा देहमात्र है परिग्रह जिनके – ऐसे पंचेन्द्रियजयी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित है।

ऐसे इस भागवतशास्त्र नियमसार को जो निश्चय और व्यवहार नय के अविरोध से जानते हैं, वे महापुरुष समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को जाननेवाले, परमानन्दरूप वीतराग सुख के अभिलाषी, बाह्याभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रह के प्रपंचों के त्यागी त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप में निरत, निजकारणपरमात्मा के स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणात्मक भेदोपचारकल्पना से निरपेक्ष स्वस्थ रत्नत्रय में परायण शब्दब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं।"

निजशुद्धात्मस्वरूप के ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान विना चार गति और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों के लिए अनन्त दुःखों से मुक्ति के लिये निजात्मा का ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान ही एकमात्र नियम से करने योग्य कार्य है। निजात्मा के श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही नियम होने से नियमसार के प्रतिपाद्य विषय हैं। नियम के साथ 'सार' शब्द का प्रयोग विपरीताभिनिवेश के निषेध के लिए किया गया है।

जैसा कि आचार्यदेव स्वयं लिखते हैं :–

"णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥[1]

नियम से करने योग्य जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप कार्य हैं; वे ही नियम हैं। विपरीत अर्थात् मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिहार के लिए नियम के साथ 'सार' शब्द का प्रयोग किया गया है।"

यद्यपि नियमसार का प्रतिपाद्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियम ही है, तथापि इसमें तत्संबंधित और भी अनेक विषय आ गये हैं, जिनका उल्लेख तात्पर्यवृत्तिकार ने इसप्रकार किया है :–

"किञ्चास्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियम-शब्दसंसूचितविशुद्धमोक्षमार्गस्य अंचितपंचास्तिकायपरिसनाथस्य संचितपंचाचारप्रपंचस्य षड्द्रव्यविचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भी-

[1] नियमसार, गाथा ३

कृतस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तपरमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकाण्डाडंबरसमृद्धस्य उपयोगत्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य....।[१]

और यह नियमसार नामक शास्त्र समस्त आगम के अर्थसमूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है, इसमें 'नियम' शब्द से सूचित विशुद्ध मोक्षमार्ग का प्रतिपादन है, यह पंचास्तिकाय के निरूपण से शोभित है, इसमें दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार – इन पाँच आचारों का विस्तृत विवेचन है, इसमें छह द्रव्यों का विविध विवेचन तथा सात तत्त्व एवं नव पदार्थ भी समाये हुए हैं तथा इसमें पंचभावों का प्रतिपादन भी बड़ी ही प्रवीणता से किया गया है। निश्चय-प्रतिक्रमण, निश्चय-प्रत्याख्यान, निश्चय-प्रायश्चित्त, परम-आलोचना, नियम, व्युत्सर्ग आदि सम्पूर्ण परमार्थ क्रियाकाण्ड के आडम्बर से यह नियमसार नामक पारमेश्वरी शास्त्र समृद्ध है तथा तीन उपयोगों से सुसम्पन्न है।"

१८७ गाथाओं में प्रतिपादित उक्त सम्पूर्ण विषय-वस्तु को नियमसार में निम्नलिखित बारह अधिकारों में विभाजित किया गया है :–

(१) जीवाधिकार
(२) अजीवाधिकार
(३) शुद्धभावाधिकार
(४) व्यवहारचारित्राधिकार
(५) परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार
(६) निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार
(७) परमालोचनाधिकार
(८) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार
(९) परमसमाधि-अधिकार
(१०) परमभक्ति-अधिकार
(११) निश्चयपरमावश्यकाधिकार
(१२) शुद्धोपयोगाधिकार

---

[१] नियमसार गाथा १८७ की तात्पर्यवृत्ति टीका

जीवाधिकार में उन्नीस गाथायें हैं। जिनमें मंगलाचरण और ग्रन्थ प्रतिज्ञा के बाद मोक्ष और मोक्षमार्ग की चर्चा की गई है तथा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर नियमसार नाम की सार्थकता बताई गई है।

इसके बाद रत्नत्रयरूप नियम का निरूपण आरम्भ होता है। सर्वप्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन के प्रतिपादन में आप्त और आगम के स्वरूप का प्रतिपादन है।

इसप्रकार आठ गाथायें तो आरंभिक भूमिकारूप ही हैं। नौवीं गाथा में छह द्रव्यों के नाम बताकर दशवीं गाथा से जीवद्रव्य की चर्चा आरम्भ होती है, जो दश गाथाओं में समाप्त होती है।

इसके बाद अठारह गाथाओं में अजीवाधिकार है; जिसमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन पांच अचेतन द्रव्यों का सामान्य वर्णन है।

ये दोनों अधिकार तो सामान्य ही हैं। नियमसार की विशेषता तो तीसरे शुद्धभावाधिकार की प्रथम गाथा से आरंभ होती है, जिसमें जीवादि बाह्यतत्त्वों को हेय बताया गया है तथा कर्मोपाधिजनित गुण-पर्यायों से भिन्न आत्मा को उपादेय कहा है। इसके बाद ४९वीं गाथा तक सभी प्रकार के परभावों व विभावभावों से आत्मा को भिन्न बताते हुए ५०वीं गाथा में आचार्य कहते हैं :–

"पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा॥

पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं। अन्तस्तत्त्वरूप स्वद्रव्य ही उपादेय है।"

इसके बाद सम्यग्दर्शन-ज्ञान का स्वरूप बताकर चारित्र का स्वरूप बताने की प्रतिज्ञा करते हैं और सर्वप्रथम व्यवहारचारित्राधिकार नामक चतुर्थ अधिकार में व्यवहारचारित्र का स्वरूप समझाते हैं; जिसमें पांच व्रतों, पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों का वर्णन है। तत्पश्चात् पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का निरूपण है।

इसप्रकार ७६वीं गाथा तक व्यवहारचारित्राधिकार समाप्त हो जाता है ।

अब निश्चयचारित्र के अन्तर्गत परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार आरम्भ होता है ।

इस अधिकार की आरम्भिक पांच गाथाओं को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव पंचरत्न कहते हैं; इनमें नारकादि, गुणस्थानादि, बालकादि, रागादि एवं क्रोधादि भावों का निश्चय से आत्मा कर्त्ता, कारयिता, अनुमंता व कारण नहीं है – यह बताया गया है । इसके बाद एक गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि उक्त भावना से जिस माध्यस्थ्य भाव की उत्पत्ति होती है, उसे निश्चयचारित्र कहते हैं । फिर प्रतिक्रमण की चर्चा आरम्भ होती है । यह अधिकार ९४वीं गाथा तक चलता है ।

इस अधिकार के सम्पूर्ण प्रतिपादन का सार यह है कि आत्माराधना ही वस्तुतः परमार्थप्रतिक्रमण है । निष्कर्ष के रूप में निम्नांकित गाथा को प्रस्तुत किया जा सकता है :–

"झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ।।[1]

ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करते हैं; इसलिए ध्यान ही वास्तव में सर्व अतिचार का प्रतिक्रमण है ।"

९५वीं गाथा से निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार आरम्भ होता है, जो १०६वीं गाथा तक चलता है । इसके बाद ११२वीं गाथा तक परमालोचनाधिकार है ।

परमार्थप्रत्याख्यान और परम-आलोचना अधिकार परमार्थ-प्रतिक्रमण के समान ध्यानरूप ही हैं । प्रतिक्रमण में ध्यान द्वारा भूतकाल के दोषों का निराकरण होता है, तो आलोचना और प्रत्याख्यान में वर्तमान और भविष्य का – मात्र यही अन्तर है ।

---

[1] नियमसार, गाथा ९३

यह बात निम्नांकित गाथा पर ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाती है:—

"मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥[1]

समस्त जल्प (वचनविस्तार) को छोड़कर तथा अनागत शुभ-अशुभभाव का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे प्रत्याख्यान है ।"

इसमें 'अनागत' शब्द ध्यान देने योग्य है । इससे सिद्ध होता है कि प्रत्याख्यान भविष्यसम्बन्धी दोषों के त्याग से सम्बन्धित होता है ।

इसके बाद आठवां शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार आरम्भ होता ह, जो एक सौ इक्कीसवीं गाथा तक चलता है । इसमें भी आत्मध्यान को ही शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त कहा गया है । इसमें तो साफ-साफ लिखा है :—

"किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ ॥[2]

अधिक कहने से क्या ? अनेक कर्मों के क्षय का हेतु महर्षियों द्वारा किया गया तपश्चरण ही प्रायश्चित्त जानो ।"

इसमें तपश्चरण को शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त कहा गया है, तथापि ध्यान ही तो सर्वोत्कृष्ट तप है; अतः ध्यान ही शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त हुआ । आगे चलकर ध्यान को भी स्पष्टरूप से शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त कहा गया है ।

इसके बाद परमसमाधि-अधिकार आरम्भ होता है, जिसकी पहली गाथा में ही कहा गया है :—

"वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥[3]

वचनोच्चारण क्रिया त्यागकर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि है ।"

---

[1] नियमसार, गाथा ९५

[2] नियमसार, गाथा ११७

[3] नियमसार, गाथा १२२

इसके बाद लगातार एक सौ तेतीसवीं गाथा तक इसी बात को अनेक प्रकार से पुष्ट किया गया है। पद्मप्रभमलधारिदेव का वह कलश, जिसके आधार पर उन्हें भावी तीर्थंकर कहा जाता है, परमसमाधि-अधिकार में ही आता है। उक्त दो सौ बारहवाँ कलश मूलतः इसप्रकार है :-

> "आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
> तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनः शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत् ।
> तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे
> साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे ।।

यदि शुद्ध दृष्टिवन्त जीव ऐसा समझता है कि परममुनि को तप में, नियम में, संयम में और सच्चारित्र में सदा आत्मा ही ऊर्ध्व रहता है तो राग के नाश के कारण उस भवभयहर अभिराम भावितीर्थंनाथ को यह साक्षात् सहज समता निश्चित है।"

इसके बाद एक सौ चौतीसवीं गाथा से दशवाँ परमभक्ति-अधिकार आरम्भ होता है, जो एक सौ चालीसवीं गाथा तक चलता है। परमभक्ति का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इस अधिकार में समागत पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा लिखित निम्नांकित कलशों को प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है, जिनमें समस्त परमभक्ति-अधिकार का सारांश समाहित है :-

> "आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम् ।
> स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः ।।[1]

जो यह आत्मा आत्मा को आत्मा के साथ निरन्तर जोड़ता है, वह निश्चय से योगभक्तिवाला मुनीश्वर है।"

> "सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे,
> भक्तिं कुर्यादनिशमतुलां यो भवच्छेददक्षाम् ।
> कामक्रोधाद्यखिलदुरघव्रातानिर्मुक्तचेताः,
> भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ।।[2]

---

[1] तात्पर्यवृत्ति, छन्द २२८
[2] तात्पर्यवृत्ति, छन्द २२०

जो भवभय के हरनेवाले इस सम्यक्त्व, शुद्धज्ञान एवं चारित्र की भवछेदक अतुल भक्ति निरन्तर करता है, वह काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पापसमूह से मुक्त चित्तवाला जीव – चाहे श्रावक हो या संयमी हो – निरन्तर भक्त है, भक्त है।"

इसके बाद एक सौ इकतालीसवीं गाथा से निश्चयपरमावश्यक अधिकार आरम्भ होता है, जो एक सौ अट्ठावनवीं गाथा तक चलता है। एक सौ बियालीसवीं गाथा में आचार्य ने आवश्यक का जो व्युत्पत्त्यर्थ बताया है, वह अपने आप में अद्भुत एवं द्रष्टव्य है :–

"ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोद्धव्वा।

जो अन्य के वश नहीं है, वह 'अवश' है और अवश का कर्म 'आवश्यक' है – ऐसा जानना चाहिये।"

अन्यवश का विस्तृत स्पष्टीकरण आगे की अनेक गाथाओं में किया गया है, जिनमें बताया गया है कि शुभाशुभभाव में रहनेवाला व द्रव्य-गुण-पर्याय के चिन्तन में मग्न आत्मा अन्यवश है, आत्मस्वरूप में संलग्न आत्मा ही स्ववश है।

इस सन्दर्भ में निम्नांकित कलश द्रष्टव्य है :–

"अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाङ्नित्यम्।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ॥[1]

जो जीव अन्यवश है, वह भले ही मुनिवेषधारी हो, तथापि संसारी है, नित्य दुख भोगनेवाला है। जो जीव स्ववश है; वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् ही न्यून है।"

इसके बाद एक सौ उनसठवीं गाथा से शुद्धोपयोगाधिकार आरम्भ होता है, जो अन्तिम अधिकार है और अन्त तक अर्थात् एक सौ सत्यासीवीं गाथा तक चलता है। वह प्रसिद्ध गाथा, जिसमें केवली भगवान पर को व्यवहार से जानते हैं और निश्चय से स्व को – यह बताया गया है, इस अधिकार की पहली ही गाथा है। आगे चलकर आत्मा के स्व-परप्रकाशक स्वरूप का युक्तिसंगत विस्तृत स्पष्टीकरण किया गया है।

---

[1] तात्पर्यवृत्ति, छन्द २४३

अन्त में निर्वाण अर्थात् सिद्धदशा का वर्णन किया गया है।

दूसरी गाथा में मार्ग और मार्गफल की जो बात आरम्भ की थी, एक सौ पिच्यासीवीं गाथा में उस कथन को दुहराते हुए उपसंहार किया गया है।

अन्त में एक महत्त्वपूर्ण चेतावनी दी गई है, जो उन्हीं के शब्दों में इसप्रकार है :-

"ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥[१]

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करें तो उनके वचन सुनकर इस जिनमार्ग में अभक्ति मत करना।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण नियमसार में एक ही ध्वनि है कि परमपारिणामिक भावरूप निजशुद्धात्मा की आराधना में ही समस्त धर्म समाहित हैं। इसके अतिरिक्त जो भी शुभाशुभ विकल्प एवं शुभाशुभ क्रियाएँ हैं, उन्हें धर्म कहना मात्र उपचार है। अतः प्रत्येक आत्मार्थी का एकमात्र कर्त्तव्य इन उपचरित धर्मों से विरत हो एकमात्र निजशुद्धात्मतत्त्व की आराधना में निरत होना ही है।

निजशुद्धात्मतत्त्व का ज्ञान, श्रद्धान एवं आचरण (लीनता) ही निश्चयरत्नत्रय है, नियम है। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति, परमावश्यक आदि इसी के विशेष हैं, अतः इसी में समाहित हैं।

आचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि वचनरूप प्रतिक्रमणादि तो स्वाध्याय हैं, ध्यान नहीं; अतः ग्राह्य नहीं। ध्यानरूप निश्चय प्रतिक्रमणादि ही करने योग्य हैं। यदि शक्तिहीनता के कारण ध्यानरूप निश्चयप्रतिक्रमणादि सम्भव न हो तो श्रद्धानरूप प्रतिक्रमण करना। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा में ऐसा स्वीकार करना कि वास्तविक प्रतिक्रमणादि तो आत्मा के ध्यानरूप ही हैं, वचनादिरूप नहीं हैं; अर्थात् श्रद्धेय, ध्येय, आराध्य तो एक आत्मा ही है। तत्सम्बन्धी मूल कथन इसप्रकार है :-

---

[१] नियमसार, गाथा १८६

"वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च ।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं ।।
जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादि करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ।।[1]

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना – इन सबको स्वाध्याय जानो ।

अहो ! यदि किया जा सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करो, यदि शक्तिविहीन होने से ध्यानमय प्रतिक्रमणादि न कर सको तो तब तक श्रद्धान ही कर्त्तव्य है ।"

यद्यपि मोहाच्छन्न दुखी जगत को देख करुणावंत आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार जैसें ग्रन्थाधिराजों की रचना करते हैं, करुणा से विगलित हो उपदेश देते हैं, आदेश देते हैं, विविध युक्तियों एवं उदाहरणों से वस्तुस्वरूप समझाते हैं; तथापि अन्तर में भलीभांति जानते हैं कि इसप्रकार के विकल्पों में उलझना आत्महित की दृष्टि से हितकर नहीं है, उचित नहीं है । अतः स्वयं को सम्बोधित करते हुए अथवा दूसरों को समझाने के विकल्प में उलझे अन्तेवासियों (निकटवर्ती शिष्यों) को समझाते हुए कहते हैं :-

"णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ।।
लद्धूणं णिहिं एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतित्ति ।।[2]

जीव नानाप्रकार के हैं, कर्म नानाप्रकार के हैं और लब्धियां भी नानाप्रकार की हैं; अतः स्वमत और परमतवालों के साथ वचनविवाद उचित नहीं है, निषेध योग्य है ।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति निधि को पाकर अपने वतन में गुप्तरूप से रहकर उसके फल को भोगता है, उसीप्रकार ज्ञानी भी परिजनों से दूर रह – गुप्त रह ज्ञाननिधि को भोगता है ।"

---

[1] नियमसार, गाथा १५३-१५४

[2] नियमसार, गाथा १५६-१५७

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह नियमसार नामक परमागम मुख्यतः मोक्षमार्ग के निरुपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थाधिराज है। यह मात्र विद्वानों के अध्ययन की वस्तु नहीं, अपितु प्रत्येक आत्मार्थी के दैनिक पाठ की चीज है।

इस युग में आचार्य कुन्दकुन्द के सम्पूर्ण साहित्य के गहन अध्येता एवं प्रबलप्रचारक आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी नियमसार पर प्रवचन करते हुए आनन्दविभोर होकर कहते हैं :-

"परमपारिणामिकभाव को प्रकाशित करनेवाला श्री नियमसार परमागम और उसकी टीका की रचना छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महासमर्थ मुनिवरों द्वारा द्रव्य के साथ पर्याय की एकता साधते-साधते हो गई है। जैसे शास्त्र और टीका रचे गये हैं, वैसा ही स्वसंवेदन वे स्वयं कर रहे थे। परमपारिणामिकभाव के आंतरिक अनुभव को ही उन्होंने शास्त्र में उतारा है। प्रत्येक अक्षर शाश्वत, टंकोत्कीर्ण, परमसत्य, निरपेक्ष, कारणशुद्धपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्ष, सहजज्ञान आदि विषयों का निरूपण करके तो मुनिवरों ने अध्यात्म की अनुभवगम्य अत्यंतात्यंत सूक्ष्म और गहन बात को इस शास्त्र में स्पष्ट किया है।

सर्वोत्कृष्ट परमागम श्री समयसार में भी इन विषयों का इतने स्पष्टरूप से निरूपण नहीं है। अहो ! जिसप्रकार कोई पराक्रमी कहा जानेवाला पुरुष वन में जाकर सिंहनी का दूध दुह लाता है, उसीप्रकार आत्मपराक्रमी महा मुनिवरों ने वन में बैठे-बैठे अन्तर का अमृत दुहा है। सर्वसंगपरित्यागी निर्ग्रन्थों ने वन में रहकर सिद्ध भगवन्तों से बातें की हैं और अनन्त सिद्ध भगवन्त किसप्रकार सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, उसका इतिहास इसमें भर दिया है।"

'परमपारिणामिकभावरूप निज शुद्धात्मतत्त्व ही एकमात्र आराध्य है, उपास्य है, श्रद्धेय है, परमज्ञेय है। इसके श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप पावन परिणतियाँ ही साधन हैं, मार्ग हैं, रत्नत्रय हैं, नियम हैं तथा इन्हीं पावन परिणतियों की परिपूर्णता ही साध्य है, मार्गफल है, निर्वाण है।' – इस परमार्थ सत्य का प्रतिपादक ही यह नियमसार नामक परमागम है।

मेरे साथ सम्पूर्ण जगत भी इस अमृत के सागर में निरन्तर आकण्ठ निमग्न रहे – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

इस नियमसार परमागम में प्रतिपादित विषयवस्तु को निम्नांकित चार्ट द्वारा भली-भांति समझा जा सकता है—

षष्ठ अध्याय
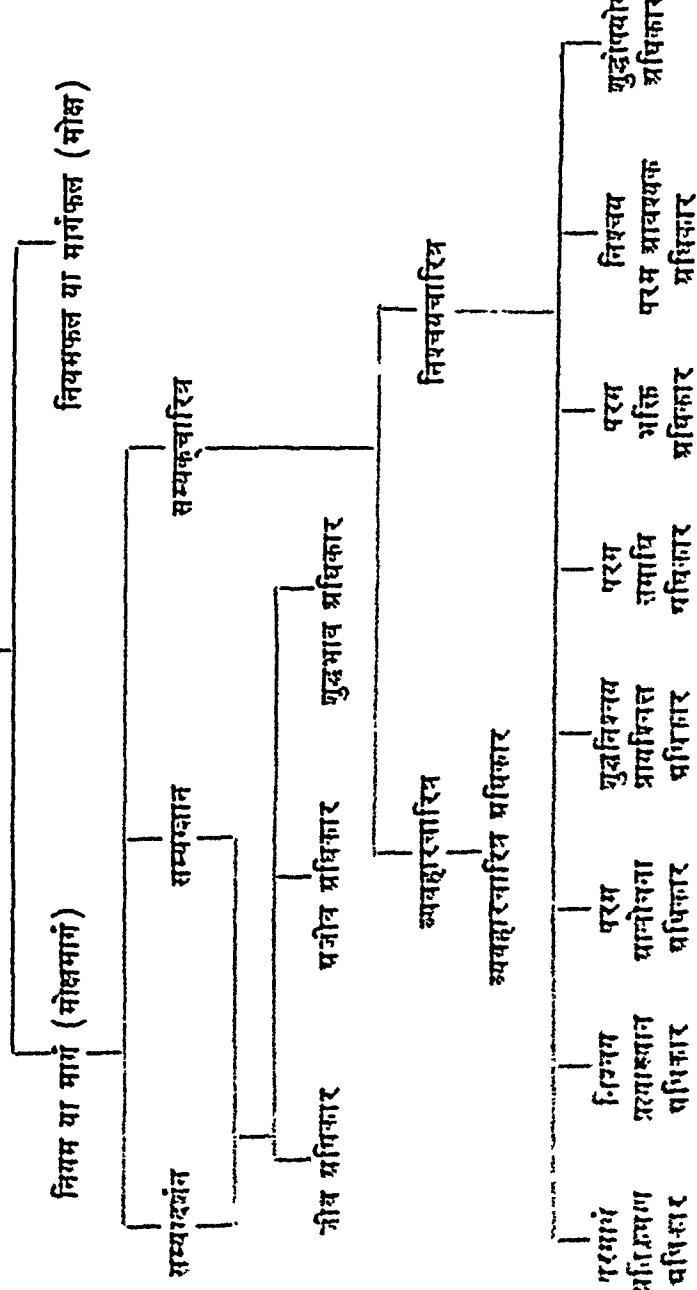
अष्टपाहुड

पाँच सौ तीन गाथाओं में निवद्ध एवं आठ पाहुडों में विभक्त यह अष्टपाहुड ग्रंथ मूलसंघ के पट्टाचार्य कठोर प्रशासक आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी अमर कृति है, जो दो हजार वर्षों से लगातार शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आवाज उठाती चली आ रही है और इसकी उपयोगिता पंचम काल के अन्त तक वनी रहेगी; क्योंकि यह अवसर्पिणी काल है, इसमें शिथिलाचार तो उत्तरोत्तर वढ़ना ही है। अत: इसकी उपयोगिता भी निरन्तर वढ़ती ही जानी है।

आज समृद्धि और सुविधाओं के मोह से आच्छन्न शिथिलाचारी श्रावकों एवं समन्वय के नाम पर सव जगह झुकनेवाले नेताओं द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए साधुवर्ग में व्याप्त अपरिमित शिथिलाचार को भरपूर संरक्षण दिया जा रहा है, पाल-पोष कर पुष्ट किया जा रहा है; अत: आज के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

इतिहास साक्षी है कि दिगम्वर जैन समाज में वृद्धिगत शिथिलाचार के विरुद्ध जब-जव भी आवाज वुलन्द हुई है, तब-तव आचार्य कुन्दकुन्द की इस अमर कृति को याद किया जाता रहा है, इसके उद्धरण देकर शिथिलाचार के विरुद्ध समाज को सावधान किया जाता रहा है। इस ग्रंथ के उद्धरणों का समाज पर अपेक्षित प्रभाव भी पड़ता है, परिणामस्वरूप समाज में शिथिलाचार के विरुद्ध एक वातावरण बनता है। यद्यपि विगत दो हजार वर्षों में उत्तरोत्तर सीमातीत शिथिलाचार बढ़ा है; तथापि आज जो कुछ भी मर्यादा दिखाई देती है, उसमें अष्टपाहुड का सर्वाधिक योगदान है।

अष्टपाहुड एक ऐसा अंकुश है, जो शिथिलाचार के मदोन्मत्त गजराज को वहुत कुछ काबू में रखता है, सर्वविनाश नहीं करने देता। यदि अष्टपाहुड नहीं होता तो आज हम कहाँ पहुंच गये होते – इसकी कल्पना करना भी कष्टकर प्रतीत होता है।

अत: यह कहने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करना चाहिए कि अष्टपाहुड की उपयोगिता निरन्तर रही है और पंचम काल के अन्त तक बनी रहेगी।

वीतरागी जिनधर्म की निर्मल धारा के अविरल प्रवाह के अभिलाषी आत्मार्थीजनों को स्वयं तो इस कृति का गहराई से अध्ययन करना ही चाहिए, इसका समुचित प्रचार-प्रसार भी करना चाहिए, जिससे सामान्यजन भी शिथिलाचार के विरुद्ध सावधान हो सकें। इसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु संक्षेप में इसप्रकार है :-

(१) दर्शनपाहुड

छत्तीस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में मंगलाचरणोपरान्त आरम्भ से ही सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए आचार्यदेव लिखते हैं कि जिनवरदेव ने कहा है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है; अत: जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे वंदनीय नहीं हैं। भले ही वे अनेक शास्त्रों के पाठी हों, उग्र तप करते हों, करोड़ों वर्ष तक तप करते रहें; तथापि जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं, उन्हें आत्मोपलब्धि नहीं होती, निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, आराधना से रहित होने के कारण वे संसार में ही भटकते रहते हैं; किन्तु जिनके हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, उन्हें कर्मरूपी रज का आवरण नहीं लगता, उनके पूर्वबद्ध कर्मों का भी नाश हो जाता है।

जो जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों से ही भ्रष्ट हैं, वे तो भ्रष्टों में भी भ्रष्ट हैं; वे स्वयं तो नाश को प्राप्त होते ही हैं, अपने अनुयायियों को भी नष्ट करते हैं। ऐसे लोग अपने दोषों को छुपाने के लिए धर्मात्माओं को दोषी बताते रहते हैं।

जिसप्रकार मूल के नष्ट हो जाने पर उसके परिवार – स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल – की वृद्धि नहीं होती; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन रूपी मूल के नष्ट होने पर संयमादि की वृद्धि नहीं होती। यही कारण है कि जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है।

जो जीव स्वयं तो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, पर अपने को संयमी मानकर सम्यग्दृष्टियों से अपने पैर पुजवाना चाहते हैं, वे लूले और गूँगे

होंगे अर्थात् वे निगोद में जावेंगे, जहाँ न तो चल-फिर ही सकेंगे और न बोल सकेंगे, उन्हें बोधिलाभ अत्यन्त दुर्लभ है। इसीप्रकार जो जीव लज्जा, गारव और भय से सम्यग्दर्शन रहित लोगों के पैर पूजते हैं, वे भी उनके अनुमोदक होने से बोधि को प्राप्त नहीं होंगे।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन रहित व्यक्ति वंदनीय नहीं है, उसीप्रकार असंयमी भी वंदनीय नहीं है। भले ही बाह्य में वस्त्रादि का त्याग कर दिया हो, तथापि यदि सम्यग्दर्शन और अंतरंग संयम नहीं है तो वह वंदनीय नहीं है; क्योंकि न देह वंदनीय है, न कुल वंदनीय है, न जाति वंदनीय है; वंदनीय तो एक मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप गुण ही हैं; अतः रत्नत्रय-विहीन की वंदना जिनमार्ग में उचित नहीं है।

जिसप्रकार गुणहीनों की वंदना उचित नहीं है, उसीप्रकार गुणवानों की उपेक्षा भी अनुचित है। अतः जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवन्त मुनिराजों की भी मत्सरभाव से वंदना नहीं करते हैं, वे भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा नहीं हैं।

अरे भाई ! जो शक्य हो, करो; जो शक्य न हो, न करो; पर श्रद्धान तो करना ही चाहिए; क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा है। यह सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में सार है, मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। इस सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।

इसप्रकार सम्पूर्ण दर्शनपाहुड सम्यक्त्व की महिमा से ही भरपूर है।

(२) सूत्रपाहुड

सत्ताईस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में अरहंतों द्वारा कथित, गणधर देवों द्वारा निबद्ध, वीतरागी नग्न दिगम्बर सन्तों की परम्परा से समागत सुव्यवस्थित जिनागम को सूत्र कहकर श्रमणों को उसमें बताये मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि जिसप्रकार सूत्र (डोरा) सहित सुई खोती नहीं है, उसीप्रकार सूत्रों (आगम) के आधार पर चलने वाले श्रमण भ्रमित नहीं होते, भटकते नहीं हैं।

सूत्र में कथित जीवादि तत्त्वार्थों एवं तत्संबंधी हेयोपादेय संबंधी ज्ञान और श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। यही कारण है कि सूत्रानुसार चलने वाले श्रमण कर्मों का नाश करते हैं। सूत्रानुशासन से भ्रष्ट साधु संघपति हो, सिंहवृत्ति हो, हरिहर-तुल्य ही क्यों न हो; सिद्धि को प्राप्त नहीं करता, संसार में ही भटकता है। अतः श्रमणों को सूत्रानुसार ही प्रवर्तन करना चाहिये।

जिनसूत्रों में तीन लिंग (भेष) बताये गये हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ नग्न दिगम्बर साधुओं का है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का है और तीसरा आर्यिकाओं का है। इनके अतिरिक्त कोई भेष नहीं है, जो धर्म की दृष्टि से पूज्य हो।

साधु के लिंग (भेष) को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं :-

"जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम्॥[1]

जैसा बालक जन्मता है, साधु का रूप वैसा ही नग्न होता है। उसके तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं होता। यदि कोई साधु थोड़ा-बहुत भी परिग्रह ग्रहण करता है तो वह निश्चित रूप से निगोद जाता है।"

वस्त्र धारण किए हुए तो तीर्थंकरों को भी मोक्ष नहीं होता है, तो फिर अन्य की तो बात ही क्या करें? एक मात्र नग्नता ही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं। स्त्रियों के नग्नता संभव नहीं है, अतः उन्हें मुक्ति भी संभव नहीं है। उनकी योनि, स्तन, नाभि और कांखों में सूक्ष्म त्रसजीवों की उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है। मासिक धर्म की आशंका से वे निरन्तर त्रस्त रहती हैं तथा स्वभाव से ही शिथिल भाववाली होती हैं, अतः उनके उत्कृष्ट साधुता संभव नहीं है; तथापि वे पापयुक्त नहीं हैं, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञान और एकदेश चारित्र हो सकता है।

इसप्रकार सम्पूर्ण सूत्रपाहुड में सूत्रों में प्रतिपादित सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है।

---

[1] अष्टपाहुड : सूत्रपाहुड, गाथा १८

(३) चारित्रपाहुड

पैंतालीस गाथाओं में निबद्ध इस चारित्रपाहुड में सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र के भेद से चारित्र के दो भेद किये गये हैं और कहा गया है कि जिनोपदिष्ट ज्ञान-दर्शन शुद्ध सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और शुद्ध आचरणरूप चारित्र संयमाचरण है।

शंकादि आठ दोषों से रहित, निःशंकादि आठ गुणों (अंगों) से सहित, तत्त्वार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर श्रद्धान और आचरण करना ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र है।

संयमाचरण चारित्र सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार का होता है। ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त श्रावक के संयम को सागार संयमाचरण चारित्र कहते हैं। पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति आदि जो उत्कृष्ट संयम निर्ग्रन्थ मुनिराजों के होता है, वह अनगार संयमाचरण चारित्र है।

जो व्यक्ति सम्यक्त्वाचरण चारित्र को धारण किये बिना संयमाचरण चारित्र को धारण करते हैं, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; सम्यक्त्वाचरण सहित संयमाचरण को धारण करनेवाले को ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

उक्त सम्यक्त्वाचरण चारित्र निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः यहाँ प्रकारान्तर से यही कहा गया है कि बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान के मात्र बाह्य क्रियाकाण्डरूप चारित्र धारण कर लेने से कुछ भी होने वाला नहीं है।

इसप्रकार इस अधिकार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित निर्मल चारित्र धारण करने की प्रेरणा दी गई है।

(४) बोधपाहुड

बासठ गाथाओं में निबद्ध और आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा आदि ग्यारह स्थानों में विभक्त इस पाहुड में ग्यारह स्थानों के माध्यम से एक प्रकार से दिगम्बर धर्म और निर्ग्रन्थ साधु का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है। उक्त ग्यारह स्थानों को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक समझाया गया है। इन सबके व्यावहारिक स्वरूप को स्पष्ट

करते हुए कहा गया है कि निश्चय से निर्दोष निर्ग्रन्थ साधु ही आयतन हैं, चैत्यगृह हैं, जिनप्रतिमा हैं, दर्शन हैं, जिनबिंब हैं, जिनमुद्रा हैं, ज्ञान हैं, देव हैं. तीर्थ हैं, अरहंत हैं और प्रव्रज्या हैं।

(५) भावपाहुड

भावशुद्धि पर विशेष बल देने वाले एक सौ पैंसठ गाथाओं के विस्तार में फैले इस भावपाहुड का सार 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : एक समालोचनात्मक अध्ययन' नामक शोध-ग्रन्थ में सुव्यवस्थित रूप से दिया गया है, जिसका संक्षिप्त रूप इसप्रकार है :-

बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की शुद्धि के लिए ही किया जाता है, परन्तु रागादि अंतरंग परिग्रह के त्याग बिना बाह्य त्याग निष्फल ही है; क्योंकि अंतरंग भावशुद्धि बिना करोड़ों वर्ष तक भी बाह्य तप करें, तब भी सिद्धि नहीं होती। अतः मुक्तिमार्ग के पथिकों को सर्वप्रथम भाव को ही पहिचानना चाहिए।

हे आत्मन् ! तूने भावरहित निर्ग्रन्थ रूप तो अनेक बार ग्रहण किए हैं, पर भावलिंग बिना – शुद्धात्मतत्त्व की भावना बिना चतुर्गति में भ्रमण करते हुए अनन्त दुःख उठाये हैं। नरकगति में सर्दी, गर्मी, आवासादि के; तिर्यंचगति में खनन, ज्वलन, वेदना, व्युच्छेदन, निरोधन आदि के; मनुष्यगति में आगन्तुक, मानसिक, शारीरिक आदि एवं देवगति में वियोग, हीन भावना आदि के दुःख भोगे हैं।

अधिक क्या कहें, आत्मभावना के बिना तू माँ के गर्भ में महा अपवित्र स्थान में सिकुड़ के रहा। आजतक तूने इतनी माताओं का दूध पिया है कि यदि उसे इकट्ठा किया जावे तो सागर भर जावे। तेरे जन्म-मरण से दुःखी माताओं के अश्रुजल से ही सागर भर जावे। इसीप्रकार तूने इस अनंत संसार में इतने जन्म लिए हैं कि उनके केश, नख, नाल और अस्थियों को इकट्ठा करे तो सुमेरु पर्वत से भी बड़ा ढेर हो जावे।

हे आत्मन् ! तूने आत्मभाव रहित होकर तीन लोक में जल, थल, अग्नि, पवन, गिरि, नदी, वृक्ष, वन आदि स्थलों पर सर्वत्र सर्व दुःख सहित निवास किया; सर्व पुद्गलों का बार-बार भक्षण किया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई। इसीप्रकार तृष्णा से पीड़ित होकर तीन

लोक का समस्त जल पिया, तथापि तृष्णा शान्त न हुई। अतः अब समस्त बातों का विचार कर, भव को समाप्त करने वाले रत्नत्रय का चिन्तन कर।

हे धीर ! तुमने अनन्त भवसागर में अनेक बार उत्पन्न होकर अपरिमित शरीर धारण किए व छोड़े हैं, जिनमें मनुष्यगति में विषभक्षणादि व तिर्यंचगति में हिमपातादि द्वारा कुमरण को प्राप्त होकर महादुःख भोगे हैं। निगोद में तूने एक अन्तर्मुहूर्त में छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण किया है।

हे जीव ! तूने रत्नत्रय के अभाव में दुःखमय संसार में अनादिकाल से भ्रमण किया है; अतः अब तुम आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप रत्नत्रय की प्राप्ति करो, ताकि तुम्हारा मरण कुमरण न बनकर सुमरण बन जाए और शीघ्र ही शाश्वत सुख को प्राप्त करो।

अब आचार्य भावरहित मात्र द्रव्यलिंग धारण करने के पश्चात् हुए दुःखों का वर्णन करते हैं।

हे मुनिवर ! तीन लोक में कोई ऐसा स्थल शेष नहीं है, जहाँ तूने द्रव्यलिंग धारण कर जन्म-मरण धारण न किया हो; न ही कोई पुद्गल ऐसा बचा है, जिसे तूने ग्रहण कर छोड़ा न हो; फिर भी तेरी मुक्ति नहीं हुई, अपितु भावलिंग न होने से अनंतकाल तक जन्म-जरा आदि से पीड़ित होते हुए दुःखों को ही भोगा है।

अधिक क्या कहें, इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में ९६-९६ रोग होते हैं, फिर सम्पूर्ण शरीर के रोगों का तो कहना ही क्या है ? पूर्वभवों में उन समस्त रोगों को तूने सहा है एवं आगे भी सहेगा।

हे मुनि ! तू माता के अपवित्र गर्भ में रहा। वहाँ माता के उच्छिष्ट भोजन से बना हुआ रसरूपी आहार ग्रहण किया। फिर बाल अवस्था में अज्ञानवश अपवित्र स्थान में, अपवित्र वस्तु में लेटा रहा व अपवित्र वस्तु ही खाई।

हे मुनि ! यह देहरूपी घर मांस, हाड़, शुक्र, रुधिर, पित्त, अंतड़ियों, खरिस (रुधिर के विना अपरिपक्व मल), वसा, पूय (खराव खून) और राध – इन सब मलिन वस्तुओं से पूरा भरा है, जिसमें तू आसक्त होकर अनन्तकाल से दुःख भोग रहा है ।

समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे धीर ! जो सिर्फ कुटुम्बादि से मुक्त हुआ, वह मुक्त नहीं है; अपितु जो आभ्यंतर की वासना छोड़कर भावों से मुक्त होता है, उसी को मुक्त कहते हैं – ऐसा जानकर आभ्यन्तर की वासना छोड़ । भूतकाल में अनेक ऐसे मुनि हुए हैं, जिन्होंने देहादि परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ रूप धारण किया, किन्तु मानादिक नहीं छोड़े; अतः सिद्धि नहीं हुई । जब निर्मान हुए, तभी मुक्ति हुई । द्रव्यलिंगी उग्र तप करते हुए अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, किन्तु क्रोधादि के उत्पन्न होने के कारण उसकी वे ऋद्धियाँ स्व-पर के विनाश का ही कारण होती हैं । जैसे – बाहु और द्वीपायन मुनि ।

भावशुद्धि विना एकादश अंग का ज्ञान भी व्यर्थ है; किन्तु यदि शास्त्रों का ज्ञान न हो और भावों की विशुद्धता हो तो आत्मानुभव के होने से मुक्ति प्राप्त हुई है । जैसे – शिवभूति मुनि ।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाव रहित नग्नत्व अकार्यकारी है । भाव सहित द्रव्यलिंग में ही कर्मप्रकृति के समूह का नाश होता है । हे धीरमुनि ! इसप्रकार जानकर तुझे आत्मा की ही भावना करना चाहिए ।

जो मुनि देहादिक परिग्रह व मानकषाय से रहित होता हुआ आत्मा में लीन होता है, वह भावलिंगी है । भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं परद्रव्य व परभावों से ममत्व को छोड़ता हूँ । मेरा स्वभाव ममत्व रहित है, अतः मैं अन्य सभी आलम्बनों को छोड़कर आत्मा का आलम्बन लेता हूँ । ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर, योग – ये सभी भाव अनेक होने पर भी एक आत्मा में ही हैं । संज्ञा, संख्यादि के भेद से ही उन्हें भिन्न-भिन्न कहा जाता है । मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वरूप शाश्वत आत्मा ही हूँ; शेष सब संयोगी पदार्थ पर-द्रव्य हैं, मुझसे भिन्न हैं । अतः हे आत्मन् ! तुम यदि चार गति से छूटकर शाश्वत सुख को पाना चाहते हो तो भावों से शुद्ध होकर

अतिनिर्मल आत्मा का चिन्तन करो। जो जीव ऐसा करता है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

जीव अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण, अनिर्दिष्ट-संस्थान व चेतना गुणवाला है। चैतन्यमयी ज्ञानस्वभावी जीव की भावना कर्मक्षय का कारण होती है।

भाव की महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि श्रावकत्व व मुनित्व के कारणभूत भाव ही हैं। भावसहित द्रव्यलिंग से ही कर्मों का नाश होता है। यदि नग्नत्व से ही कार्य सिद्धि हो तो नारकी, पशु आदि सभी जीवसमूह को नग्नत्व के कारण मुक्ति प्राप्त होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, अपितु वे महादुःखी ही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भाव रहित नग्नत्व से दुःखों की ही प्राप्ति होती है, संसार में ही भ्रमण होता है।

बाह्य में नग्न मुनि पैशून्य, हास्य, भाषा आदि कार्यों से मलिन होता हुआ स्वयं अपयश को प्राप्त करता है एवं व्यवहारधर्म की भी हँसी कराता है; इसलिए आभ्यन्तर भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध होकर ही निर्ग्रन्थ बाह्यलिंग धारण करना चाहिए।

भावरहित द्रव्यलिंग की निरर्थकता बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस मुनि में धर्म का वास नहीं है, अपितु दोषों का आवास है, वह तो इक्षुफल के समान है, जिसमें न तो मुक्तिरूपी फल लगते हैं और न रत्नत्रयरूप गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं। अधिक क्या कहें, वे तो नग्न होकर भी नाचनेवाले भाँड के समान ही हैं।[1]

अतः हे आत्मन्! पहले मिथ्यात्वादि आभ्यन्तर दोषों को छोड़कर, भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध होकर, बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग धारण करना चाहिए।

शुद्धात्मा की भावना से रहित मुनियों द्वारा किया गया बाह्य परिग्रह का त्याग, गिरि-कन्दरादि का आवास, ध्यान, अध्ययन आदि सभी क्रियाएँ निरर्थक हैं। इसलिए हे मुनि! लोक का मनोरंजन करने वाला मात्र बाह्यवेष ही धारण न कर, इन्द्रियों की सेना का भंजन कर, विषय में मत रम, मनरूपी बन्दर को वश में कर,

[1] अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ७१

मिथ्यात्व, कषाय व नव नोकषायों को भावशुद्धिपूर्वक छोड़, देव-शास्त्र-गुरु की विनय कर, जिनशास्त्रों को अच्छी तरह समझकर शुद्धभावों की भावना कर; जिससे तुझे क्षुधा-तृषादि वेदना से रहित त्रिभुवन चूड़ामणि सिद्धत्व की प्राप्ति होगी।

हे मुनि ! तू बाईस परीषहों को सह; बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना कर; भावशुद्धि के लिए नवपदार्थ, सप्ततत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान आदि की नाम-लक्षणादिपूर्वक भावना कर; दश प्रकार के अब्रह्मचर्य को छोड़कर नव प्रकार के ब्रह्मचर्य को प्रगट कर।

इसप्रकार भावपूर्वक द्रव्यलिंगी मुनि ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप को प्राप्त करता है, भावरहित द्रव्यलिंगी तो चारों गतियों में अनंत दुःखों को भोगता है।

हे मुनि ! तू संसार को असार जानकर केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए निर्मल सम्यग्दर्शन सहित दीक्षा लेने की भावना कर, भावों से शुद्ध होकर बाह्यलिंग धारण कर, उत्तम गुणों का पालन कर। जीव, अजीव, आस्रव, बंध और संवरतत्त्व का चिन्तन कर, मन-वचन-काय से शुद्ध होकर आत्मा का चिन्तन कर; क्योंकि जबतक विचारणीय जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करेगा, तबतक अविनाशी पद की प्राप्ति नहीं होगी।

हे मुनिवर ! पाप-पुण्य बंधादि का कारण परिणाम ही है। मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योगरूप भावों से पाप का बंध होता है। मिथ्यात्व रहित सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य को बांधता है। अतः तुम ऐसी भावना करो कि मैं ज्ञानावरणादि आदि आठ कर्मों से आच्छादित हूँ, मैं इन्हें समाप्त कर निज स्वरूप को प्रगट करूँ। अधिक कहने से क्या ? तू तो प्रतिदिन शील व उत्तर गुणों का भेद-प्रभेदों सहित चिन्तन कर।

हे मुनि ! ध्यान से मोक्ष होता है। अतः तुम आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म व शुक्ल ध्यान को धारण करो। द्रव्यलिंगी के धर्म व शुक्ल ध्यान नहीं होता, अतः वह संसार रूप वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं है। जिस मुनि के मन में रागरूप पवन से रहित धर्मरूपी

दीपक जलता है, वही आत्मा को प्रकाशित करता है, वही संसार रूपी वृक्ष को ध्यानरूपी कुल्हाड़ी से काटता है।

ज्ञान का एकाग्र होना ही ध्यान है। ध्यान द्वारा कर्मरूपी वृक्ष दग्ध हो जाता है, जिससे संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, अतः भावश्रमण तो सुखों को प्राप्त कर तीर्थंकर व गणधर आदि पदों को प्राप्त करते हैं; पर द्रव्यश्रमण दुःखों को ही भोगता है। अतः गुण-दोषों को जानकर तुम भाव सहित संयमी बनो।

भावश्रमण विद्याधरादि की ऋद्धियों को नहीं चाहता, न ही वह मनुष्य-देवादि के सुखों की ही वांछा करता है। वह चाहता है कि शीघ्रातिशीघ्र आत्महित कर लूँ।

हे धीर ! जिसप्रकार गुड़मिश्रित दूध के पीने पर भी सर्प विष रहित नहीं होता, उसीप्रकार अभव्य जीव जिनधर्म के सुनने पर भी अपनी दुर्मत से आच्छादित बुद्धि को नहीं छोड़ता। वह मिथ्या धर्म से युक्त रहता हुआ मिथ्या धर्म का पालन करता है, अज्ञान तप करता है, जिससे दुर्गति को प्राप्त होता हुआ संसार में भ्रमण करता है; अतः तुझे ३६३ पाखण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनधर्म में मन लगाना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार लोक में जीव रहित शरीर को 'शव' कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन रहित पुरुष चल शव है। शव लोक में अपूज्य होता है और सम्यग्दर्शन रहित पुरुष लोकोत्तर मार्ग में अपूज्य होता है। मुनि व श्रावक धर्मों में सम्यक्त्व की ही विशेषता है। जिसप्रकार ताराओं के समूह में चन्द्रमा सुशोभित होता है, पशुओं में मृगराज सुशोभित होता है; उसीप्रकार जिनमार्ग में निर्मल सम्यग्दर्शन से युक्त तप-व्रतादि से निर्मल जिनलिंग सुशोभित होता है।

इसप्रकार सम्यक्त्व के गुण व मिथ्यात्व के दोषों को जानकर गुणरूपी रत्नों के सार मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन को भावपूर्वक धारण करना चाहिए।

जिसप्रकार कमलिनी स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होती, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी स्वभाव से ही विषय-कषायों में लिप्त

नहीं होता। आचार्यदेव कहते हैं कि जो भावसहित सम्पूर्ण शील-संयमादि गुणों से युक्त है, उसे ही हम मुनि कहते हैं। मिथ्यात्व से मलिन चित्तवाले बहुत दोषों के आवास मुनिवेष धारी जीव तो श्रावक के समान भी नहीं हैं।

जो इन्द्रियों के दमन व क्षमारूपी तलवार से कषायरूपी प्रबल शत्रु को जीतते हैं, चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तंभ को काटते हैं, विषयरूपी विष के फलों से युक्त मोहरूपी वृक्ष पर चढ़ी मायारूपी बेल को ज्ञानरूपी शस्त्र से पूर्णरूपेण काटते हैं; मोह, मद, गौरव से रहित और करुणाभाव से सहित हैं; वे मुनि ही वास्तविक धीर-वीर हैं। वे मुनि ही चक्रवर्ती, नारायण, अर्धचक्री, देव, गणधर आदि के सुखों को और चारण ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं तथा सम्पूर्ण शुद्धता होने पर अजर, अमर, अनुपम, उत्तम, अतुल, सिद्ध सुख को भी प्राप्त करते हैं।

भावपाहुड का उपसंहार कहते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञदेव कथित इस भावपाहुड को जो भव्य जीव भली-भाँति पढ़ते हैं, सुनते हैं, चिन्तन करते हैं, वे अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भावपाहुड में भावलिंग सहित द्रव्यलिंग धारण करने की प्रेरणा दी गई है। प्रकारान्तर से सम्यग्दर्शन सहित व्रत धारण करने का उपदेश दिया गया है।

(६) मोक्षपाहुड

एक सौ छह गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में आत्मा की अनन्तसुखस्वरूप दशा मोक्ष एवं उसकी प्राप्ति के उपायों का निरूपण है। इसके आरंभ में ही आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा – इन तीन भेदों का निरूपण करते हुए बताया गया है कि बहिरात्मपना हेय है, अन्तरात्मपना उपादेय है और परमात्मपना परम-उपादेय है।

आगे बंध और मोक्ष के कारणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि परपदार्थों में रत आत्मा बंधन को प्राप्त होता है और परपदार्थों

से विरत आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है । इसप्रकार स्वद्रव्य से सुगति और परद्रव्य से दुर्गति होती है – ऐसा जानकर हे आत्मन् ! स्वद्रव्य में रति और परद्रव्य से विरति करो ।

आत्मस्वभाव से भिन्न स्त्री-पुत्रादिक, धन-धान्यादिक सभी चेतन-अचेतन पदार्थ 'परद्रव्य' हैं और इनसे भिन्न ज्ञानशरीरी, अविनाशी निज भगवान आत्मा 'स्वद्रव्य' है । जो मुनि परद्रव्यों से पराङ्मुख होकर स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं । अत: जो व्यक्ति संसाररूपी महार्णव से पार होना चाहते हैं, उन्हें अपने शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए ।

आत्मार्थी मुनिराज सोचते हैं कि मैं किससे क्या बात करूँ; क्योंकि जो भी इन आँखों से दिखाई देते हैं, वे सब शरीरादि तो जड़ हैं, मूर्तिक हैं, अचेतन हैं, कुछ समझते नहीं हैं और चेतन तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है ।

जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने आत्मा के हित के कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है । – ऐसा जानकर योगिजन समस्त व्यवहार को त्यागकर आत्मा का ध्यान करते हैं ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषा बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो जाने सो ज्ञान, जो देखे सो दर्शन और पुण्य और पाप का परिहार चारित्र है । अथवा तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन, तत्त्व का ग्रहण सम्यग्ज्ञान एवं पुण्य-पाप का परिहार सम्यक्चारित्र है ।

तपरहित ज्ञान और ज्ञानरहित तप – दोनों ही अकार्य हैं, किसी काम के नहीं हैं; क्योंकि मुक्ति तो ज्ञानपूर्वक तप से होती है । ध्यान ही सर्वोत्कृष्ट तप है, पर ज्ञान-ध्यान से भ्रष्ट कुछ साधुजन कहते हैं कि इस काल में ध्यान नहीं होता, पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि आज भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के धनी साधुजन आत्मा का ध्यान कर लौकान्तिक देवपने को प्राप्त होते हैं और वहाँ से चयकर आगामी भव में निर्वाण की प्राप्ति करते हैं । पर जिनकी बुद्धि पापकर्म से

मोहित हैं, वे जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर का लिंग (वेष) धारण करके भी पाप करते हैं। वे पापी मोक्षमार्ग से च्युत ही हैं।

निश्चयनय का अभिप्राय यह है कि जो योगी अपने आत्मा में अच्छी तरह लीन हो जाता है, वह निर्मलचरित्र योगी अवश्य निर्वाण की प्राप्ति करता है।

इसप्रकार मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन कर श्रावकधर्म की चर्चा करते हुए सबसे पहले निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने की प्रेरणा देते हैं। कहते हैं कि अधिक कहने से क्या लाभ है? मात्र इतना जान लो कि आज तक भूतकाल में जितने सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में भी जितने सिद्ध होंगे, वह सर्व सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है।

आगे कहते हैं कि जिन्होंने सर्वसिद्धि करने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, वे ही धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, और वे ही पंडित हैं।

अन्त में मोक्षपाहुड का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि सबसे उत्तम पदार्थ निज शुद्धात्मा ही है, जो इसी देह में रह रहा है। अरहंतादि पंचपरमेष्ठी भी निजात्मा में ही रत है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी इसी आत्मा की अवस्थाएँ हैं; अतः मुझे तो एक आत्मा ही शरण है।

इसप्रकार इस अधिकार में मोक्ष और मोक्षमार्ग की चर्चा करते हुए स्वद्रव्य में रति करने का उपदेश दिया गया है तथा तत्त्वरुचि को सम्यग्दर्शन, तत्त्वग्रहण को सम्यग्ज्ञान एवं पुण्य-पाप के परिहार को सम्यक्चारित्र कहा गया है। अन्त में एकमात्र निज भगवान आत्मा की ही शरण में जाने की पावन प्रेरणा दी गई है।

(७) लिंगपाहुड

बाईस गाथाओं के इस लिंगपाहुड में जिनलिंग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए जिनलिंग धारण करने वालों को अपने आचरण और भावों की सँभाल के प्रति सतर्क किया गया है।

आरम्भ में ही आचार्य कहते हैं कि धर्मात्मा के लिंग (नग्न दिगम्बर साधु वेष) तो होता है, किन्तु लिंग धारण कर लेने मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं हो जाती। इसलिए हे भव्यजीवो! भावरूप धर्म को पहिचानो, अकेले लिंग (वेष) से कुछ होने वाला नहीं है।

आगे चलकर अनेक गाथाओं में बड़े ही कठोर शब्दों में कहा गया है कि पाप से मोहित है बुद्धि जिनकी, ऐसे कुछ लोग जिनलिंग को धारण करके उसकी हँसी कराते हैं। निर्ग्रंथ लिंग धारण करके भी जो साधु परिग्रह का संग्रह करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, उसका चिंतवन करते हैं; वे नग्न होकर भी सच्चे श्रमण नहीं हैं, अज्ञानी हैं, पशु हैं।

इसीप्रकार नग्नवेश धारण करके भी जो भोजन में गृद्धता रखते हैं, आहार के निमित्त दौड़ते हैं, कलह करते हैं, ईर्ष्या करते हैं, मनमाना सोते हैं, दौड़ते हुए चलते हैं, उछलते हैं, इत्यादि असत्क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, वे मुनि तो हैं ही नहीं, मनुष्य भी नहीं हैं, पशु हैं।

आगे चलकर फिर लिखते हैं कि जो मुनि दीक्षा रहित गृहस्थों में और दीक्षित शिष्यों में बहुत स्नेह रखते हैं, मुनियों के योग्य क्रिया और गुरुओं की विनय से रहित होते हैं, वे भी श्रमण नहीं, पशु हैं।

जो साधु महिलाओं का विश्वास करके एवं उनको विश्वास में लेकर उनमें प्रवर्तते हैं, उन्हें पढ़ाते हैं, प्रवृत्ति सिखाते हैं, ऐसे वेषधारी तो पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट हैं, विनष्ट हैं; श्रमण नहीं हैं।

इसप्रकार की प्रवृत्तियों में पड़े हुए वेषी मुनि बहुत विद्वान होने पर भी – शास्त्रों के ज्ञाता होने पर भी सच्चे श्रमण नहीं हैं।

अन्त में आचार्य कहते हैं कि इस लिंगपाहुड में व्यक्त भावों को जानकर जो मुनि दोषों से बचकर सच्चा लिंग धारण करते हैं, वे मुक्ति पाते हैं।

(८) शीलपाहुड

शीलपाहुड की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए शीलपाहुड के अन्त में वचनिकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं :–

"शील नाम स्वभाव का है। आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञान-दर्शनमयी चेतनास्वरूप है, वह अनादि कर्म के संयोग से विभावरूप

परिणमता है । इसके विशेष मिथ्यात्व-कषाय आदि अनेक हैं, इनको राग-द्वेष-मोह भी कहते हैं । इनके भेद संक्षेप से चौरासी लाख किए हैं, विस्तार से असंख्यात अनन्त होते हैं, इनको कुशील कहते हैं । इनके अभावरूप संक्षेप से चौरासी लाख उत्तरगुण हैं, इन्हें शील कहते हैं । यह तो सामान्य परद्रव्य के सम्बन्ध की अपेक्षा शील-कुशील का अर्थ है और प्रसिद्ध व्यवहार की अपेक्षा स्त्री के संग की अपेक्षा कुशील के अठारह हजार भेद कहे हैं । इनके अभावरूप अठारह हजार शील के भेद हैं ।"

वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही शील हैं, इनकी एकता ही मोक्षमार्ग है । अतः शील को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :-

"णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ।।
णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ।।[1]

चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है, सम्यग्दर्शन रहित लिंगग्रहण अर्थात् नग्न दिगम्बर दीक्षा लेना निरर्थक है और संयम विना तप निरर्थक है । यदि कोई चारित्र सहित ज्ञान धारण करता है, सम्यग्दर्शन सहित लिंग ग्रहण करता है और संयम सहित तपश्चरण करता है तो अल्प का भी महाफल प्राप्त करता है ।"

आगे आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान, चारित्र, तप का आचरण करने वाले मुनिराज निश्चित रूप से निर्वाण की प्राप्ति करते हैं ।

जीवदया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप – ये शील के ही परिवार हैं । विष के भक्षण से तो जीव एक बार ही मरण को प्राप्त होता है, किन्तु विषयरूप विष (कुशील) के सेवन से अनन्त बार जन्म-मरण धारण करने पड़ते हैं ।

शील विना अकेले ज्ञान लेने मात्र से यदि मोक्ष होता है तो दश पूर्वो का ज्ञान जिसको था, ऐसा रुद्र नरक क्यों गया ? अधिक क्या कहें, इतना समझ लेना कि ज्ञान सहित शील ही मुक्ति का कारण है ।

---

[1] अष्टपाहुड : शीलपाहुड, गाथा ५ व ६

अन्त में आचार्यदेव कहते हैं :-

"जिणवयणगहिदसारा विषयविरत्ता तवोधणा धीरा।
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥[1]

जिन्होंने जिनवचनों के सार को ग्रहण कर लिया है और जो विषयों से विरक्त हो गये हैं, जिनके तप ही धन है और जो धीर हैं तथा जो शीलरूपी जल से स्नान करके शुद्ध हुए हैं, वे मुनिराज सिद्धालय के सुखों को प्राप्त करते हैं।"

इसप्रकार इस अधिकार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित शील की महिमा बताई है, उसे ही मोक्ष का कारण बताया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण अष्टपाहुड श्रमणों में समागत या संभावित शिथिलाचार के विरुद्ध एक समर्थ आचार्य का सशक्त अध्यादेश है, जिसमें सम्यग्दर्शन पर तो सर्वाधिक बल दिया ही गया है, साथ में श्रमणों के संयमाचरण के निरतिचार पालन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, श्रमणों को पग-पग पर सतर्क किया गया है।

सम्यग्दर्शन रहित संयम धारण कर लेने पर संयमाचरण में शिथिलता अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन रहित शिथिल श्रमण स्वयं को तो संसारसागर में डुबोते ही हैं, साथ ही अनुयायियों को भी ले डूबते हैं तथा निर्मल दिगम्बर जिनधर्म को भी कलंकित करते हैं, बदनाम करते हैं। इसप्रकार वे लोग आत्मद्रोही होने के साथ-साथ धर्मद्रोही भी हैं - इस बात का अहसास आचार्य कुन्दकुन्द को गहराई से था। यही कारण है कि उन्होंने इसप्रकार की प्रवृत्तियों का अष्टपाहुड में बड़ी कठोरता से निषेध किया है।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अष्टपाहुड शिथिलाचार के विरुद्ध एक सशक्त दस्तावेज़ है।

आचार्य कुन्दकुन्द के हम सभी अनुयायियों का यह पावन कर्तव्य है कि उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर हम स्वयं तो चलें ही, जगत को भी उनके द्वारा प्रतिपादित सन्मार्ग से परिचित करायें, चलने की पावन प्रेरणा दें। - इसी मंगल कामना के साथ इस उपक्रम से विराम लेता हूँ। □

[1] अष्टपाहुड : शीलपाहुड, गाथा ३८

सप्तम अध्याय

उपसंहार

आचार्य कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व के विहंगावलोकन एवं उनके पंच परमागमों के अति संक्षिप्त इस अनुशीलन के आधार पर यह निसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जिन आचार्य परम्परा के प्रतिष्ठापक सर्वमान्य आचार्य हैं। वे और उनके पंच परमागम एक ऐसे प्रकाश-स्तंभ हैं, जो विगत दो हजार वर्षों से दिगम्बर जिन-परंपरा एवं अध्यात्मलोक को लगातार आलोकित कर रहे हैं।

आध्यात्मिक शान्ति और सामाजिक क्रान्ति का जैसा अद्भुत संगम इस अपराजेय व्यक्तित्व में देखने को मिलता है, वैसा अन्यत्र असंभव नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है।

आत्मा के प्रति अत्यन्त सजग आत्मोन्मुखी वृत्ति एवं शिथिलाचार के विरुद्ध इतना उग्र संघर्ष आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के ही वश की बात थी। आत्मोन्मुखी वृत्ति के नाम पर विकृतियों की ओर से आँख मूंद लेनेवाले पलायनवादी एवं विकृतियों के विरुद्ध जेहाद छेड़ने के वहाने जगतप्रपंचों में उलझ जानेवाले परमाध्यात्म से पराङ्मुख पुरुष तो पग-पग पर मिल जावेंगे; पर आत्माराधना एवं लोककल्याण में समुचित समन्वय स्थापित कर, सुविचारित सन्मार्ग पर स्वयं चलनेवाले एवं जगत को ले जानेवाले समर्थ पुरुष विरले ही होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे ही समर्थ आचार्य थे, जो स्वयं तो सन्मार्ग पर चले ही, साथ ही लोक को भी मंगलमय मार्ग पर ले चले। उनके द्वारा प्रशस्त किया वह आध्यात्मिक सन्मार्ग आज भी अध्यात्मप्रेमियों का आधार है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म एवं आचरण संबंधी निर्देशों की आवश्यकता जितनी आज है, उतनी कुन्दकुन्द के समय में भी न रही

होगी; क्योंकि अध्यात्मविमुखता और शिथिलाचार जितना आज देखने में आ रहा है, उतना कुन्दकुन्द के समय में तो निश्चित ही नहीं था और भी किसी युग में नहीं रहा होगा। आध्यात्मिक जागृति और साधु व श्रावकों के निर्मल आचरण के लिए कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का अध्ययन गहराई से किया जाना उपयोगी ही नहीं, अत्यन्त आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का नियमित स्वाध्याय एवं विधिवत् पठन-पाठन न केवल आत्महित के लिए आवश्यक है, अपितु सामाजिक शान्ति और श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा श्रावकों में समागत असदाचार और श्रमणों में समागत शिथिलाचार सामाजिक शान्ति को तो भंग कर ही रहे हैं; श्रमण संस्कृति की दिगम्बर धारा भी छिन्न-भिन्न होती जा रही है।

श्रद्धा और चारित्र के इस संकट काल में कुन्दकुन्द के पंच परमागमों में प्रवाहित ज्ञान गंगा में आकण्ठ निमज्जन (डुबकी लगाना) ही परम शरण है।

यदि हम जिन-अध्यात्म की ज्योति जलाए रखना चाहते हैं, श्रावकों को सदाचारी बनाये रखना चाहते हैं, संतों को शिथिलाचार से बचाये रखना चाहते हैं तो हमें कुन्दकुन्द को जन-जन तक पहुँचाना ही होगा, उनके साहित्य को जन-जन की वस्तु बनाना ही होगा।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में समागत विषयवस्तु का परिचय तो कराया ही जा चुका है, उनकी भाषा और भावों के साक्षात परिचय के लिए आगामी अध्याय में कुन्दकुन्द के पंच परमागमों में से चुनी हुई १०१ (एक सौ एक) गाथाएँ सरलार्थ सहित कुन्दकुन्द शतक नाम से दी जा रही हैं। हमारा विश्वास है कि इनके स्वाध्याय से आपको आचार्य कुन्दकुन्द के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने का उत्साह अवश्य जागृत होगा।

पंच परमागमों के आलोड़न से हम सभी के परिणामों की परमविशुद्धि हो – इस भावना से विराम लेता हूँ।

कुन्दकुन्द शतक

(१)

एस सुरासुरमणुसिदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।।

सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र-वंदित कर्ममल निर्मलकरन ।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ।।

मैं सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित, घातियाकर्मों रूपी मल को धो डालनेवाले एवं धर्मतीर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर भगवान वर्द्धमान को प्रणाम करता हूँ।

(२)

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेठ्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।।

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठि पण ।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ।।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पंच परमेष्ठी भगवान आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं; इसलिए मेरे लिए तो एक भगवान आत्मा ही शरण है।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १ २. अष्टपाहुड़ : मोक्षपाहुड़, गाथा १०४

(३)

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।।

सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण ।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप—ये चार आराधनाएँ भी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं; इसलिए मेरे लिए तो एक आत्मा ही शरण है। तात्पर्य यह है कि निश्चय से विचार करें तो एकमात्र निज भगवान आत्मा ही शरण है, क्योंकि आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है।

(४)

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।।

निर्ग्रन्थ है नीराग है निःशल्य है निर्दोष है ।
निर्मान-मद यह आतमा निष्काम है निष्क्रोध है।।

भगवान आत्मा परिग्रह से रहित है, राग से रहित है, माया, मिथ्यात्व और निदान शल्यों से रहित है, सर्व दोषों से मुक्त है, काम-क्रोध से रहित है और मद-मान से भी रहित है।

(५)

णिद्दंडो णिद्दंद्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।

निर्दण्ड है निर्द्वन्द्व है यह निरालम्बी आतमा ।
निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आतमा।।

भगवान आत्मा हिंसादि पापों रूप दण्ड से रहित है, मानसिक द्वन्द्वों से रहित है, ममत्वपरिणाम से रहित है, शरीर से रहित है, आलम्बन से रहित है, राग से रहित है, दोषों से रहित है, मूढ़ता और भय से भी रहित है।

---

३. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा १०५ ४. नियमसार, गाथा ४४
५. नियमसार, गाथा ४३

(६)

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमेत्तं पि ।।

मैं एक दर्शन ज्ञान मय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ।।

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ एवं सदा ही ज्ञान-दर्शनमय अरूपी तत्त्व हूँ। मुझसें भिन्न अन्य समस्त द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरे नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि मैं समस्त परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शन स्वरूपी, अरूपी, एक, परमशुद्ध तत्त्व हूँ। अन्य परद्रव्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

(७)

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेतनागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ।।

भगवान आत्मा में न रस है, न रूप है, न गंध है और न शब्द है; अतः यह आत्मा अव्यक्त है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है। हे भव्यो ! किसी भी लिंग (चिह्न) से ग्रहण न होने वाले, चेतना गुण वाले एवं अनिर्दिष्ट (न कहे जा सकने वाले) संस्थान (आकार) वाले इस भगवान आत्मा को जानो।

(८)

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ।।

जिस भाँति प्रज्ञाछैनी से पर से विभक्त किया इसे ।
उस भाँति प्रज्ञाछैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ।।

प्रश्न—भगवान आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जाय?
उत्तर—भगवान आत्मा का ग्रहण बुद्धिरूपी छैनी से किया जाना चाहिए। जिस प्रकार बुद्धिरूपी छैनी से भगवान आत्मा को परपदार्थों से भिन्न किया है, उसी प्रकार बुद्धिरूपी छैनी से ही भगवान आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

---

६. समयसार, गाथा ३८ ७. समयसार, गाथा ४९
८. समयसार, गाथा २९६

(९)

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ।।

जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो ।
जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो ।।

शुद्धात्मा को जानता हुआ अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ—अनुभवता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव में अपनापन स्थापित करनेवाला शुद्धता को प्राप्त करता है और अशुद्ध स्वभाव में अपनापन स्थापित करनेवाला अशुद्ध रहता है।

(१०)

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।।

यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ।
हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है ।।

आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञेय तो सम्पूर्ण लोकालोक है। यही कारण है कि लोकालोकरूप ज्ञेय को जानने वाले ज्ञान को भी सर्वगत कहा गया है। यद्यपि आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों से वाहर नहीं जाता, तथापि सव को जानने वाला होने से सर्वगत कहा जाता है।

(११)

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।

चारित्र दर्शन ज्ञान को सव साधुजन सेवें सदा ।
ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा ।।

साधु पुरुषों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-चारित्र का नित्य सेवन करना चाहिए; क्योंकि उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो।

---

९. समयसार, गाथा १८६ १०. प्रवचनसार, गाथा २३
११. समयसार, गाथा १६

(१२-१३)

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।।

'यह नृपति है' यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें ।
अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें ।।
यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए ।
अति प्रीति से अनुचरण करिये प्रीति से पहिचानिए ।।

जिस प्रकार कोई धनार्थी पुरुष राजा को जानकर उसका श्रद्धान करता है और उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है; उसी प्रकार मुमुक्षुओं को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये, उसका श्रद्धान करना चाहिए एवं उसी का अनुचरण भी करना चाहिए, उसी में तन्मय हो जाना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि आत्मार्थियों को सर्वप्रथम निज भगवान आत्मा को जानना चाहिए, फिर यह श्रद्धान करना चाहिए कि यह भगवान आत्मा मैं ही हूँ। इसके पश्चात् उसी में लीन हो जाना चाहिए, क्योंकि निज भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान ही निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

(१४)

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ।।
जो भव्यजन संसार-सागर पार होना चाहते ।
वे कर्मईंधन-दहन निज शुद्धातमा को ध्यावते ।।

जो जीव भयंकर संसाररूपी समुद्र से पार होना चाहते हैं, वे जीव कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाले अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं; क्योंकि शुद्धात्मा के ध्यानरूपी अग्नि ही कर्मरूपी ईंधन को जलाने में समर्थ होती है। अतः मुमुक्षु का एकमात्र परम कर्त्तव्य निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है।

---

१२. समयसार, गाथा १७ १३. समयसार, गाथा १८
१४. अष्टपाहुड, मोक्षपाहुड, गाथा २६

(१५)

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।

मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर ।
निज में ही नित्य विहार कर पर द्रव्य में न विहार कर ।।

हे आत्मन् ! तू स्वयं को निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में स्थापित कर, निजात्मा का ही ध्यान धर, निजात्मा में ही चेत, निजात्मा का ही अनुभव कर एवं निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में ही नित्य विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर, उपयोग को अन्यत्र मत भटका, एक आत्मा का ही ध्यान धर।

(१६)

जीवादीसद्दहणं सम्मत्त तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ।।

जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
रागादि का परिहार चारित यही मुक्तीमार्ग है ।।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और उन्हीं का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि भावों का त्याग सम्यक्चारित्र है—बस यही मोक्ष का मार्ग है।

(१७)

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ।।

तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है तत्ग्रहण सम्यग्ज्ञान है ।
जिनदेव ने ऐसा कहा परिहार ही चारित्र है ।।

तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन है, तत्त्वग्रहण सम्यग्ज्ञान है और मोह-राग-द्वेष एवं परपदार्थों का त्याग सम्यक्चारित्र है—ऐसा जिनेन्द्र देवों ने कहा है। परमतत्त्व रूप निज भगवान आत्मा की रुचि सम्यग्दर्शन, उसी का ग्रहण सम्यग्ज्ञान और उससे भिन्न परद्रव्यों एवं उनके लक्ष्य से उत्पन्न चिद्विकारों का त्याग ही सम्यक्चारित्र है।

---

१५. समयसार, गाथा ४१२ १६. समयसार, गाथा १५५
१७. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा ३८

(१८)

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ।।

जानना ही ज्ञान है अरु देखना दर्शन कहा ।
पुण्य-पाप का परिहार चारित्र यही जिनवर ने कहा ।।

जो जानता है, वह ज्ञान है; जो देखता है, वह दर्शन है और पुण्य-पाप के परिहार को चारित्र कहा गया है; क्योंकि पुण्य और पाप दोनों ही रागभावरूप हैं और चारित्र वीतरागभावरूप होता है।

(१९)

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ।।

दर्शन रहित यदि वेष हो चारित्र विरहित ज्ञान हो ।
संयम रहित तप निरर्थक आकाश-कुसुम समान हो ।।

चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है, सम्यग्दर्शन के बिना लिंग-ग्रहण अर्थात् नग्न दिगम्बर दीक्षा लेना निरर्थक है और संयम बिना तप निरर्थक है। सम्यग्ज्ञान की सार्थकता तदनुसार आचरण करने में है। तप भी संयमी को ही शोभा देता है और साधुवेष भी सम्यग्दृष्टियों का ही सफल है।

(२०)

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ।।

दर्शन सहित हो वेष चारित्र शुद्ध सम्यग्ज्ञान हो ।
संयम सहित तप अल्प भी हो तदपि सुफल महान हो ।।

चारित्र से शुद्ध ज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित लिंगग्रहण एवं संयम सहित तप यदि थोड़ा भी हो तो महाफल देनेवाला होता है।

---

१८. अष्टपाहुड मोक्षपाहुड, गाथा ३७ १९. अष्टपाहुड : शीलपाहुड, गाथा ५
२०. अष्टपाहुड : शीलपाहुड, गाथा ६

(२१)

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं वेंति सव्वण्हू ।।

परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें ।
सब बालतप है बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें ।।

परमार्थ में अस्थित अर्थात् निज भगवान आत्मा के अनुभव से रहित जो जीव तप करता है, व्रत धारण करता है; उसके उन व्रत और तप को सर्वज्ञ भगवान बालतप एवं बालव्रत कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान विना — आत्मानुभव के विना किये गये व्रत और तप निरर्थक हैं।

(२२)

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ।।

व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें ।
पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ति करें ।।

शील और तप को करते हुए भी, व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं, परमार्थ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट पदार्थ निज भगवान आत्मा के अनुभव से रहित हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती है। निर्वाण की प्राप्ति आत्मानुभवियों को ही होती है। निर्वाण की प्राप्ति आत्मानुभवियों को ही होती है।

(२३)

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ।।

जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें ।
श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें ।।

जो शक्य हो, वह करे; जो शक्य न हो, न करे; पर श्रद्धान तो सभी का करे; क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने वाले को सम्यग्दर्शन होता है—ऐसा कहा है।

---

२१. समयसार, गाथा १५२ २२. समयसार, गाथा १५३
२३. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २२

(२४)

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ।।

जीवादि का श्रद्धान ही व्यवहार से सम्यकत्व है ।
पर नियत नय से आत्म का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ।।

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और अपने आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(२५)

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ।।

नियम से निज द्रव्य में रत श्रमण सम्यकवंत हैं ।
सम्यक्त्व-परिणत श्रमण ही क्षय करें करमानन्त हैं ।।

जो श्रमण स्वद्रव्य में रत है, रुचिवंत है; वह नियम से सम्यक्त्व सहित है। सम्यक्त्व सहित वह श्रमण दुष्टाष्ट कर्मों का नाश करता है। अपने आत्मा में अपनापन स्थापित कर अपने आत्मा में लीन हो जाने वाले सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रमण आठ कर्मों का नाश करते हैं, सिद्धदशा को प्राप्त करते हैं।

(२६)

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ।।

मुक्ती गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का ।
यह जान लो हे भव्यजन ! इससे अधिक अब कहें क्या ।।

अधिक कहने से क्या लाभ है, इतना समझ लो कि आज तक जो जीव सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है।
तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के विना न तो आज तक कोई सिद्ध हुआ है और न भविष्य में होगा।

---

२४. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २०   २५. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा १४
२६. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा ८८

(२७)

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ।।

वे धन्य हैं सुकृतार्थ हैं, वे शूर नर पण्डित वही ।
दुःस्वप्न में सम्यक्त्व को जिनने मलीन किया नहीं ।।

जिन जीवों ने मुक्ति प्राप्त कराने वाले सम्यग्दर्शन को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया; वे ही धन्य हैं, कृतार्थ हैं, शूरवीर हैं, पंडित हैं, मनुष्य हैं। तात्पर्य यह है कि सभी गुण सम्यग्दर्शन से ही शोभा पाते हैं। अतः हमें निर्मल सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए! स्वप्न में भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न हो।

(२८)

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा ।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं।

भूतार्थ (निश्चय) नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष--ये नव तत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं। तात्पर्य यह है कि मात्र व्यवहार से तत्त्वों का स्वरूप जान लेना पर्याप्त नहीं है, नव तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप निश्चयनय से जानना चाहिए।

(२९)

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय ।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे ।।

व्यवहारनय अभूतार्थ (असत्यार्थ) है और शुद्धनय (निश्चयनय) भूतार्थ (सत्यार्थ) है। जो जीव भूतार्थ अर्थात् शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मा का आश्रय लेता है, वह जीव नियम से सम्यग्दृष्टि होता है।

---

२७. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा ८९ २८. समयसार, गाथा १३
२९. समयसार, गाथा ११

(३०)

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।

अनार्य भाषा के विना समझा सके न अनार्य को ।
बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार विन परमार्थ को ।।

जिसप्रकार अनार्य (म्लेच्छ) जनों को अनार्य भाषा के विना कोई भी बात समझाना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के विना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। तात्पर्य यह है कि अभूतार्थ होने पर भी निश्चय का प्रतिपादक होने के कारण व्यवहार को जिनवाणी में स्थान प्राप्त है।

(३१)

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ।।

देह-चेतन एक हैं – यह वचन है व्यवहार का ।
ये एक हो सकते नहीं – यह कथन है परमार्थ का ।।

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कदापि एक नहीं हो सकते हैं, वे भिन्न-भिन्न ही हैं। यह असद्भूत-व्यवहारनय का प्रतिपादन है, जिसका निषेध निश्चयनय कर रहा है।

(३२)

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं – यह कहा व्यवहार से ।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ।।

व्यवहारनय से कहा जाता है कि ज्ञानी के ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है; किन्तु निश्चय से ज्ञानी के न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है। यह सद्भूत-व्यवहारनय का कथन है, जिसका निषेध निश्चयनय कर रहा है।

---

३०. समयसार, गाथा ८ ३१. समयसार, गाथा २७
३२. समयसार, गाथा ७

(३३)

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।

जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में ।
जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में ।।

जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप की साधना के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने काम में सोता है।
स्वरूप की साधना ही निश्चय से आत्मा का कार्य है। अतः साधुजन व्यर्थ के व्यवहार में न उलझ कर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करते हैं।

(३४)

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।

इस ही तरह परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की ।
निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ति करें निर्वाण की ।।

इसप्रकार निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय को निषिद्ध (निषेध कर दिया गया) जानो, क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। व्यवहारनय निश्चयनय का प्रतिपादक होता है और निश्चयनय व्यवहारनय का निषेधक–इन दोनों नयों में ऐसा ही संबंध है।

(३५)

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।।

सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा ।
हे कानवालो सुनो दर्शन-हीन वंदन योग्य ना ।।

जिनवरदेव ने अपने शिष्यों से कहा कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। अतः हे जिनवरदेव के शिष्यो ! कान खोलकर सुन लो कि सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति वंदना करने योग्य नहीं है।

---

३३. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा ३१ ३४. समयसार, गाथा २७२
३५. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २

(३६)

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
एदे भट्ठ वि भट्ठा सेसं जणं विणासंति ।।

जो ज्ञान-दर्शन-भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ।
वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं ।।

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट हैं एवं सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं; वे भ्रष्टों में भ्रष्ट हैं। ऐसे लोग स्वयं तो नष्ट हैं ही, अन्य जनों को भी नष्ट करते हैं; अतः ऐसे लोगों से दूर रहना चाहिए।

(३७)

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ।।

दृग-भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना ।
हों सिद्ध चारित्र-भ्रष्ट पर दृग-भ्रष्ट को निर्वाण ना ।।

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं; उनको निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते। तात्पर्य यह है कि चारित्र की अपेक्षा श्रद्धा का दोष बड़ा माना गया है।

(३८)

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ।।

जो लाज गारव और भयवश पूजते दृग-भ्रष्ट को ।
की पाप की अनुमोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो ।।

'ये साधु सम्यग्दर्शन-भ्रष्ट हैं'—ऐसा जानकर भी जो पुरुष लज्जा, गारव व भय से उनके पैरों में पड़ते हैं, पाप की अनुमोदना करने वाले होने से उन्हें भी बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) नहीं है।

---

३६. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा ८ ३७. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा ३
३८. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा १३

(३९)

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।

चाहें नमन दृगवंत से पर स्वयं दर्शनहीन हों ।
है बोधिदुर्लभ उन्हें भी वे भी वचन-पग हीन हों।।

जो पुरुष स्वयं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, पर अन्य सम्यग्दृष्टियों से अपने पैर पुजवाते हैं या पुजवाना चाहते हैं, वे परभव में लूले और गूंगे होते हैं, उन्हें भी बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति दुर्लभ है। यहाँ आचार्यदेव लूले और गूंगे कह कर यह कहना चाहते हैं कि वे एकेन्द्रिय पेड़-पौधे होंगे, जहाँ चलना-फिरना और बोलना संभव नहीं होगा।

(४०)

सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।

यद्यपि करें वे उग्र तप शत-सहस-कोटी वर्ष तक ।
पर रतनत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व-विरहित साधु सब।।

जो मुनि सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे हजार करोड़ (दश अरब) वर्ष तक भलीभाँति उग्र तप करें, तब भी उन्हें बोधि (रत्नत्रय) की प्राप्ति नहीं होती है।

(४१)

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी ।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।

जिसतरह द्रुम परिवार की वृद्धि न हो जड़ के बिना ।
बस उसतरह ना मुक्ति हो जिनमार्ग में दर्शन बिना।।

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ के नष्ट हो जाने पर उसके परिवार (तना, शाखा, पत्र, पुष्प, फूल आदि) की वृद्धि नहीं होती; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मुनि मूल से ही विनष्ट हैं; अतः उन्हें मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।

---

३९. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा १२ ४०. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा ५
४१. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा १०

(४२)

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणो वि तो ण वंदिज्ज ।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ।।

असंयमी न वन्द्य है दृगहीन वस्त्रविहीन भी ।
दोनों ही एक समान हैं दोनों ही संयत हैं नहीं ।।

असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार यदि भावसंयम नहीं है, पर वाहर से वस्त्रादि त्यागकर द्रव्यसंयम धारण कर लिया है तो वह भी वंदनीय नहीं है; क्योंकि असली संयम के अभाव में दोनों ही समान रूप से अवंदनीय है।

(४३)

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ।।

ना वंदना हो देह की कुल की नहीं ना जाति की ।
कोई करे क्यों वंदना गुण-हीन श्रावक-साधु की ।।

न तो देह वंदनीय है, न कुल वंदनीय है और न जाति ही वंदनीय है। गुणहीनों की वंदना कौन करे? क्योंकि गुणहीन न तो सच्चे श्रावक ही होते हैं और न सच्चे श्रमण ही।

(४४)

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी ।
यह मान्यता जव तक रहे अज्ञानि हैं तव तक सभी ।।

जवतक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों में आत्मवुद्धि रहेगी अर्थात् "यह मैं हूँ और कर्म-नोकर्म मुझ में हैं"–ऐसी वुद्धि रहेगी, ऐसी मान्यता रहेगी, तवतक यह आत्मा अप्रतिवुद्ध है। तात्पर्य यह है कि शरीरादि परपदार्थों एवं मोहादि विकारी पर्यायों में अपनापन ही अज्ञान है।

---

४२. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २६ ४३. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २७
४४. समयसार, गाथा १९

(४५)

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।

करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को ।
जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हो सद्ज्ञान को ।।

जो आत्मा कर्म के परिणाम को एवं नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है; किन्तु मात्र जानता है, वह ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि परकर्त्तत्व का भाव अज्ञान है, क्योंकि ज्ञानभाव तो मात्र जाननरूप ही होता है।

(४६)

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ।।

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी यह मानता है कि न मैं किसी को मार सकता हूँ और न कोई मुझे मार सकता है।

(४७)

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ।।

निज आयुक्षय से मरण हो – यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं? ।।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तुम परजीवों के आयुकर्म को तो हरते नहीं हो; फिर तुमने उनका मरण कैसे किया?—यह बात गंभीरता से विचार करने योग्य है।

---

४५. समयसार, गाथा ७५ ४६. समयसार, गाथा २४७
४७. समयसार, गाथा २४८

(४८)

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ।।

निज आयुक्षय से मरण हो – यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं? ।।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। पर-जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया? अतः अपने मरण का दोष पर के माथे मढ़ना अज्ञान ही है।

(४९)

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।

मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन! ।।

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूं और पर-जीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि एक जीव दूसरे जीव के जीवन-मरण और सुख-दुख का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है, अज्ञानी जीव व्यर्थ ही पर का कर्त्ता-धर्त्ता बनकर दुखी होता है।

(५०)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ।।

सब आयु से जीवित रहें – यह बात जिनवर ने कही ।
जीवित रखोगे किस तरह जब आयु दे सकते नहीं? ।।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है—ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। तुम पर-जीवों को आयुकर्म तो देते नहीं तो तुमने उनका जीवन (रक्षा) कैसे किया?

---

४८. समयसार, गाथा २४९   ४९. समयसार, गाथा २५०
५०. समयसार, गाथा २५१

(५१)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ।।

सब आयु से जीवित रहें — यह बात जिनवर ने कही ।
कैसे बचावे वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं? ।।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है—ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। पर-जीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा जीवन (रक्षा) कैसे किया?

(५२)

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।

मैं सुखी करता दु:खी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो? ।।

जो यह मानता है कि मैं परजीवों को सुखी-दु:खी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। ज्ञानी इससे विपरीत मानता है। ज्ञानी जानता है कि लौकिक सुख व दुख तो जीवों को अपने पुण्य-पाप के अनुसार होते हैं, वे तो उनके स्वयं के कर्मों के फल हैं। उनमें किसी दूसरे जीव का रंचमात्र भी कर्त्तत्व नहीं है।

(५३)

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ।।

मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से ।
यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ।।

जीवों को मारो अथवा न मारो, कर्मबंध तो मात्र अध्यवसान (मोह-राग-द्वेष) से ही होता है। निश्चयनय से जीवों के बंध का स्वरूप संक्षेप में यही है।
बंध का संबंध पर-जीवों के जीवन-मरण से न होकर जीव के स्वयं के मोह-राग-द्वेष परिणामों से है। अत: बंध से बचने के लिए परिणामों की संभाल अधिक आवश्यक है।

---

५१. समयसार, गाथा २५२ ५२. समयसार, गाथा २५३
५३. समयसार, गाथा २६२

(५४)

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।।

प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से ।
तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ।।

जीव मरे चाहे न मरे, पर अयत्नाचार प्रवृत्ति वाले के हिंसा होती ही है। यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के मात्र बाह्य हिंसा से बंध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि बंध का सम्बन्ध जितना अनर्गलप्रवृत्ति से है, उतना जीवों के मरने-जीने से नहीं। अतः बंध से बचने के लिए अनर्गलप्रवृत्ति से बचना चाहिए।

(५५)

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ।।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत् सत् द्रव्य का लक्षण कहा ।
पर्याय-गुणमय द्रव्य है — यह वचन जिनवर ने कहा ।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त सत् जिसका लक्षण है और जिसमें गुण व पर्यायें पाई जाती हैं, उसे सर्वज्ञ भगवान द्रव्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। अथवा गुण और पर्यायवाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं।

(५६)

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति ।।

पर्याय बिन ना द्रव्य हो ना द्रव्य बिन पर्याय ही ।
दोनों अनन्य रहे सदा — यह बात श्रमणों ने कही ।।

जैन श्रमण कहते हैं कि पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता; और द्रव्य के बिना पर्यायें नहीं होती, क्योंकि दोनों में अनन्यभाव है।

---

५४. प्रवचनसार, गाथा २१७　　५५. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १०
५६. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १२

(५७)

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ।।

द्रव्य बिन गुण हों नहीं गुण विना द्रव्य नहीं बने ।
गुण द्रव्य अव्यतिरिक्त हैं — यह कहा जिनवर देव ने ।।

द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के विना द्रव्य नहीं होता; क्योंकि दोनों में अव्यक्तिरिक्त भाव (अभिन्नपना) है।
गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। अतः द्रव्य और गुणों का भिन्न-भिन्न होना संभव नहीं है। द्रव्य और गुणों में मात्र अंशी-अंश का भेद है।

(५८)

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ।।

उत्पाद हो न अभाव का ना नाश हो सद्भाव में ।
उत्पाद-व्यय करते रहें सब द्रव्य गुण-पर्याय में ।।

भाव का अर्थात् जो पदार्थ है, उसका नाश नहीं होता और अभाव का अर्थात् जो पदार्थ नहीं है, उसका उत्पाद नहीं होता। भाव अर्थात् सभी पदार्थ अपने गुण-पर्यायों का उत्पाद-व्यय करते हैं। तात्पर्य यह है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता; पर सभी पदार्थों में प्रतिसमय परिणमन अवश्य होता रहता है।

(५९)

तक्कालिगेव सव्वे सद सब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ।।

असद्भूत हों सद्भूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब ।
सद्ज्ञान में वर्तमानवत ही हैं सदा वर्तमान सब ।।

जीवादि द्रव्य जातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भांति विशेष रूप से ज्ञान में झलकती हैं।

---

५७. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १३ ५८. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १५
५९. प्रवचनसार, गाथा ३७

(६०)

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ।।

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं ।
असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ।।

जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं और जो पर्यायें उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं वे अविद्यमान पर्यायें भी ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होती हैं। ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है कि उसमें भूतकालीन विनष्ट पर्यायें और भविष्यकालीन अनुत्पन्न पर्यायें भी स्पष्ट झलकती हैं।

(६१)

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ।।

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो ।
फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो? ।।

यदि अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा? सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान की दिव्यता ही इस बात में है कि उसमें भूत-भविष्य की पर्यायें भी प्रतिबिम्बित होती है।

(६२)

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ।।

अरहंत-भासित ग्रथित-गणधर सूत्र से ही श्रमणजन ।
परमार्थ का साधन करें अध्ययन करो हे भव्यजन ।।

अरहंत भगवान द्वारा कहा गया और गणधरदेव द्वारा भले प्रकार से गूंथा गया जो जिनागम है, वही सूत्र है। ऐसे सूत्रों के आधार पर श्रमणजन परमार्थ को साधते हैं। तात्पर्य यह है कि जिनागम श्रमणों के लिए परमार्थसाधक है।

---

६०. प्रवचनसार, गाथा ३८ ६१. प्रवचनसार, गाथा ३९
६२. अष्टपाहुड : सूत्रपाहुड, गाथा १

(६३)

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि।।

डोरा सहित सुइ नहीं खोती गिरे चाहे वन भवन ।
संसार-सागर पार हों जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण।।

जिसप्रकार सूत्र (डोरा) सहित सुई खोती नहीं है, सूत्र रहित खो जाती है; उसी प्रकार सूत्र (शास्त्र) सहित श्रमण नाश को प्राप्त नहीं होते। सूत्रों को जानने वाले श्रमण संसार का नाश करते हैं; क्योंकि संसार के नाश और मुक्ति प्राप्त करने का उपाय सूत्रों (शास्त्रों) में ही वताया गया है।

(६४)

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।।

तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से ।
दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए।।

जिनशास्त्रों के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वालों के नियम से मोह का नाश हो जाता है; इसलिए शास्त्रों का अध्ययन अच्छी तरह से अवश्य करना चाहिए।

(६५)

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा।।

जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित ।
जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर साधें स्वहित ।

विचित्र गुण-पर्यायों से सहित सभी पदार्थ आगमसिद्ध हैं। श्रमणजन उन पदार्थों को आगम के अभ्यास से ही जानते हैं। तात्पर्य यह है कि क्षेत्र व काल से दूरवर्ती एवं सूक्ष्म पदार्थ केवलज्ञान विना प्रत्यक्ष नहीं जाने जा सकते; अतः वे क्षयोपशम ज्ञानी मुनिराजों द्वारा आगम से ही जाने जाते हैं।

---

६३. अष्टपाहुड : सूत्रपाहुड, गाथा ३ ६४. प्रवचनसार, गाथा ८६
६५. प्रवचनसार, गाथा २३५

(६६)

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ।।

स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं ।
भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ है ।।

सच्चा श्रमण वही है, जिसे अपने आत्मा की एकाग्रता प्राप्त हो। एकाग्रता उसे ही प्राप्त होती है, जिसने पदार्थों का निश्चय किया हो। पदार्थों का निश्चय आगम से होता है; अतः आगम में चेष्टा ही ज्येष्ठ है। तात्पर्य यह कि आगम का अभ्यास आवश्यक, अनिवार्य और श्रेष्ठ कर्त्तव्य है।

(६७)

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।।

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्वपर को नहि जानते ।
वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्वपर को नहि जानते ? ।।

आगम-हीन श्रमण आत्मा को और पर को नहीं जानता है। पदार्थों को नहीं जानने वाला श्रमण कर्मों का नाश किसप्रकार कर सकता है ?

(६८)

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ।।

व्रत सहित पूजा आदि सब जिन धर्म में सत्कर्म हैं ।
दृगमोह -क्षोभ विहीन निज परिणाम आतमधर्म है ।।

जिन शासन में जिनेन्द्रदेव ने इसप्रकार कहा है कि पूजादि करना एवं व्रत धारण करना पुण्य ही है और मोह (मिथ्यात्व) व क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है। तात्पर्य यह है कि शुभभाव पुण्य है और शुद्धभाव (वीतराग भाव) धर्म है।

---

६६. प्रवचनसार, गाथा २३२   ६७. प्रवचनसार, गाथा २३३
६८. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ८३

(६९)

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।

चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है ।
दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम समताभाव है ।।

वास्तव में तो चारित्र ही धर्म है। यह धर्म साम्यभाव रूप है तथा मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (रागद्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्य है—ऐसा कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन सहित चारित्र ही वास्तव में धर्म है।

(७०)

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ।।

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा ।
पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आतमा ।।

धर्म से परिणमित स्वभाववाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग में युक्त हो तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष का कारण शुद्धोपयोग ही है शुभोपयोग नहीं।

(७१)

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ।।

शुभोपयोगी श्रमण हैं शुद्धोपयोगी भी श्रमण ।
शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब ।।

श्रमण दो प्रकार के होते हैं :—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। शुद्धोपयोगी श्रमण निरास्रव होते हैं, शेष सास्रव होते हैं—ऐसा शास्त्रों में कहा है। तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग से आस्रव व बंध ही होता है; संवर, निर्जरा व मोक्ष नहीं। इसीप्रकार शुद्धोपयोग से संवर, निर्जरा व मोक्ष ही होता है; आस्रव व बंध नहीं।

---

६९. प्रवचनसार, गाथा ७ — ७०. प्रवचनसार, गाथा ११
७१. प्रवचनसार, गाथा २४५

(७२)

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।

कांच-कंचन बन्धु-अरि सुख-दुःख प्रशंसा-निन्द में ।
शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ।।

जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान हैं, सुख-दुःख समान है, प्रशंसा-निन्दा समान हैं, पत्थर और सोना समान हैं, जीवन और मरण भी समान है, वही सच्चा श्रमण है। तात्पर्य यह है कि अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रसंगों में समताभाव रखना ही श्रमणपना है।

(७३)

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ।।

भावलिंगी सुखी होते द्रव्यलिंगी दुःख लहें ।
गुण-दोष को पहिचान कर सब भाव से मुनि पद गहें ।।

भावश्रमण सुख को प्राप्त करता है और द्रव्यश्रमण दुःख को प्राप्त करता है। इस प्रकार गुण-दोषों को जानकर हे जीव ! तू भावसहित संयमी बन; कोरा द्रव्य संयम धारण करने से कोई लाभ नहीं।

(७४)

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ।।

मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से ।
आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से ।।

पहले मिथ्यात्वादि दोष छोड़कर भाव से नग्न हो, पीछे नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंग धारण करे—ऐसी जिनाज्ञा है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व छोड़े बिना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त किए बिना, नग्नवेष धारण कर लेने से कोई लाभ नहीं है, अपितु हानि ही है।

---

७२. प्रवचनसार, गाथा २४१   ७३. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा १२७
७४. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ७३

(७५)

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ।।

जिन भावना से रहित मुनि भव में भ्रमें चिरकाल तक ।
हों नगन पर हों बोधि-विरहित दुःख लहें चिरकाल तक ।।

जिनभावना से रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से रहित मात्र द्रव्यलिंग धारण कर लेने वाला नग्न व्यक्ति दुःखों को प्राप्त करता है, चिरकाल तक संसार-सागर में परिभ्रमण करता है। ऐसा नग्न व्यक्ति बोधि को प्राप्त नहीं होता।

(७६)

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ।।

वस्त्रादि सब परित्याग कोड़ाकोड़ि वर्षों तप करें ।
पर भाव बिन ना सिद्धि हो सत्यार्थ यह जिनवर कहें ।।

वस्त्रादि त्याग कर, हाथ लम्बे लटकाकर, जन्मजन्मान्तरों में कोटि-कोटि वर्षों तक तपश्चरण करे तो भी भाव रहित को सिद्धि प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अंतरंग में भावों की शुद्धि बिना बाह्य में कितना ही तपश्चरण करे, कोई लाभ प्राप्त होने वाला नहीं है।

(७७)

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया ।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ।।

नारकी तिर्यंच आदिक देह से सब नग्न हैं ।
सच्चे श्रमण तो हैं वही जो भाव से भी नग्न हैं ।।

द्रव्य से बाह्य में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं। नारकी व तिर्यंच जीव तो सदा नग्न रहते ही हैं, कारण पाकर मनुष्यादि भी नग्न होते देखे जाते हैं; पर परिणामों से अशुद्ध होने से भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते।

---

७५. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ६८ ७६. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ४
७७. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ६७

(७८)

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पवहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ।।

जन्मते शिशुवत अकिंचन नहीं तिलतुष हाथ में ।
किंचित् परिग्रह साथ हो तो श्रमण जाँय निगोद में ।।

जैसा बालक जन्मता है, साधु का रूप वैसा ही नग्न होता है। उनके तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता। यदि कोई साधु थोड़ा-बहुत भी परिग्रह ग्रहण करता है तो वह निश्चित रूप से निगोद जाता है।

(७९)

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।।

जो आर्त होते जोड़ते रखते रखाते यत्न से ।
वे पाप मोहितमती हैं वे श्रमण नहि तिर्यंच हैं ।।

निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर लिंग धारण करके भी जो बहुत प्रयत्न करके परिग्रह का संग्रह करता है, उसमें सम्मोहित होता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिए आर्त्तध्यान करता है; वह पाप से मोहित बुद्धिवाला श्रमण, श्रमण नहीं, पशु है, अज्ञानी है।

(८०)

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।।

राग करते नारियों से दूसरों को दोष दें ।
सद्ज्ञान-दर्शन रहित हैं वे श्रमण नहि तिर्यंच हैं ।।

निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंग धारण करके भी जो महिलावर्ग से राग करता है, उनसे रागात्मक व्यवहार करता है, प्रीतिपूर्वक वार्तालाप करता है तथा अन्य निर्दोष श्रमणों या श्रावकों को दोष लगाता है; सम्यग्दर्शनज्ञान से रहित वह श्रमण तिर्यंच योनि वाला है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

---

७८. अष्टपाहुड : सूत्रपाहुड, गाथा १८   ७९. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा ५
८०. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा १७

(८१)

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो ।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।।

श्रावकों में शिष्यगण में नेह रखते श्रमण जो ।
हीन विनयाचार से वे श्रमण नहिं तिर्यंच हैं ।।

जो भेषधारी दीक्षा रहित गृहस्थों और शिष्यों में बहुत स्नेह रखता है और मुनि के योग्य आचरण तथा विनय से विहीन होता है; वह श्रमण नहीं, पशु है, अज्ञानी है। अतः न तो गृहस्थों में स्नेह रखना चाहिए और न दीक्षित शिष्यवर्ग में ही।

(८२)

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्ठो ।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ।।

पार्श्वस्थ से भी हीन जो विश्वस्त महिला वर्ग में ।
रत ज्ञान दर्शन चरण दें वे नहीं पथ अपवर्ग में ।।

जो साधु वेष धारण करके महिलाओं में विश्वास उत्पन्न करके उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र देता है, उन्हें पढ़ाता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है—इसप्रकार उनमें प्रवर्त्तता है; वह तो पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट है, प्रकट भाव से विनष्ट है, श्रमण नहीं है।

(८३)

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमेत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ।।

धर्म से हो लिंग केवल लिंग से न धर्म हो ।
समभाव को पहिचानिये द्रव्यलिंग से क्या कार्य हो? ।।

धर्मसहित तो लिंग होता है, परन्तु लिंगमात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए हे भव्यजीव ! तू भावरूप धर्म को जान, केवल लिंग से तेरा क्या कार्य सिद्ध होता है? तात्पर्य यह है कि अंतरंग निर्मल परिणामों सहित लिंग धारण करने से ही धर्म की प्राप्ति होती है।

---

८१. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा २ ८२. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा १८
८३. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा २०

(८४)

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।

विरक्त शिवरमणी वरें अनुरक्त बाँधे कर्म को ।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो ।।

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य-सम्पन्न जीव कर्मों से छूटता है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है; अतः हे भव्यजीवो ! शुभाशुभ कर्मों में राग मत करो।

(८५)

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता ।।

परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते ।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते ।।

जो जीव वीतरागभाव रूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं तथा संसार-परिभ्रमण का हेतु होने पर भी अज्ञान से पुण्य को मोक्षमार्ग मानकर चाहते हैं, वे जीव परमार्थ से बाहर हैं। तात्पर्य यह है कि उन्हें कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी।

(८६)

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।।

सुशील है शुभकर्म और अशुभ करम कुशील है ।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं? ।।

अज्ञानीजनों को सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि तुम ऐसा जानते हो कि शुभकर्म सुशील है और अशुभकर्म कुशील है, पर जो शुभाशुभ कर्म संसार में प्रवेश कराते हैं, उनमें से कोई भी कर्म सुशील कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म कुशील ही हैं, कोई भी कर्म सुशील नहीं होता।

---

८४. समयसार, गाथा १५०
८५. समयसार, गाथा १५४
८६. समयसार, गाथा १४५

(८७)

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती ।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ।।

जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है, उसीप्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती ही है। इसीप्रकार जैसे अशुभकर्म (पाप) जीव को बाँधता है, वैसे ही शुभकर्म (पुण्य) भी जीव को बाँधता ही है। बंधन में डालने की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों कर्म समान ही हैं।

(८८)

तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ।।

दु:शील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो ।
दु:शील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ।।

सचेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि पुण्य-पाप इन दोनों कुशीलों के साथ राग मत करो, संसर्ग भी मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

(८९)

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।

पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है — जो न माने बात ये ।
संसार-सागर में भ्रमे मद-मोह से आच्छन्न वे ।।

इसप्रकार जो व्यक्ति 'पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है'—ऐसा नहीं मानता है अर्थात् उन्हें समानरूप से हेय नहीं मानता है, वह मोह से आच्छन्न प्राणी अपार घोर संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता है।

---

८७. समयसार, गाथा १४६ ८८. समयसार, गाथा १४७
८९. प्रवचनसार, गाथा ७७

(९०)

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।।

इन्द्रिसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है ।
है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ।।

इन्द्रियों से भोगा जाने वाला सुख पराधीन है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बंध का कारण है, विषम है; अतः उसे दुःख ही जानो। तात्पर्य यह है कि पुण्योदय से प्राप्त होने वाला सुख, दुःख ही है।

(९१)

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ।।

शुभ-अशुभ रचना वचन वा रागादिभाव निवारिके ।
जो करें आतम ध्यान नर उनके नियम से नियम है ।।

शुभाशुभ वचन रचना और रागादिभावों का निवारण करके जो आत्मा अपने आत्मा को ध्याता है, उसे नियम से नियम होता है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभभाव का अभाव कर अपने आत्मा का ध्यान करना ही धर्म है, नियम है।

(९२)

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ।।

सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित ही है 'नियम' जानो नियम से ।
विपरीत का परिहार होता 'सार' इस शुभ वचन से ।।

नियम से करने योग्य जो कार्य हो, उसे नियम कहते हैं। आत्महित की दृष्टि से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही करने योग्य कार्य हैं; अतः वे ही नियम हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की निवृत्ति के लिए 'नियम' के साथ 'सार' शब्द जोड़ा गया है।
अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही नियमसार है।

---

९०. प्रवचनसार, गाथा ७६   ९१. नियमसार, गाथा १२०
९२. नियमसार, गाथा ३

(९३)

मग्गो मग्गफलं त्ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।

जैन शासन में कहा है मार्ग एवं मार्गफल ।
है मार्ग मोक्ष-उपाय एवं मोक्ष ही है मार्गफल।।

जिनशासन में मार्ग और मार्गफल—ऐसे दो प्रकार कहे गये हैं। उनमें मोक्ष के उपाय को मार्ग कहते हैं और उसका फल निर्वाण (मोक्ष) है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। तथा इनकी पूर्णता से जो अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्तवीर्य तथा अव्याबाध आदि गुण प्रगट होते हैं; वही मोक्ष है।

(९४)

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।

है जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही ।
अतएव वर्जित वाद है निज-पर समय के साथ भी।।

जीव नाना प्रकार के हैं, कर्म नाना प्रकार के हैं और लब्धियाँ भी नाना प्रकार की हैं। अतः स्वमत और परमतवालों के साथ वचनविवाद उचित नहीं है, निषेध योग्य है। किसी से वाद-विवाद करना आत्मार्थी का काम नहीं है।

(९५)

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।।

ज्यों निधि पाकर निज वतन में गुप्त रह जन भोगते ।
त्यों ज्ञानिजन भी ज्ञाननिधि परसंग तज के भोगते।।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति निधि को पाकर अपने वतन में गुप्तरूप से रहकर उसके फल को भोगता है, उसीप्रकार ज्ञानी भी जगतजनों से दूर रहकर—गुप्त रहकर ज्ञाननिधि को भोगते हैं।

---

९३. नियमसार, गाथा २ ९४. नियमसार, गाथा १५६
९५. नियमसार, गाथा १५७

(९६)

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ।।

यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की ।
छोड़ो न भक्ती वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की ।।

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करें तो उनके वचनों को सुनकर हे भव्यो! इस सुन्दर जिनमार्ग में अभक्ति मत करना।
इस सच्चे मार्ग में अभक्ति—अश्रद्धा करने का फल अनंत संसार है; अतः किसी के कहने मात्र से इस सुन्दर मार्ग को त्यागना बुद्धिमानी नहीं है।

(९७)

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ।।

जो थाप निज को मुक्तिपथ भक्ती निवृत्ती की करें ।
वे जीव निज असहाय गुण सम्पन्न आतम को वरें ।।

मोक्षपथ में अपने आत्मा को अच्छी तरह स्थापित करके जो व्यक्ति निर्वृत्ति-भक्ति करता है, निर्वाण-भक्ति करता है, निज भगवान आत्मा की भक्ति करता है, निज भगवान आत्मा में ही अपनापन स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है, उसका ही ध्यान करता है; वह निश्चय से असहाय गुणवाले निजात्मा को प्राप्त करता है।

(९८)

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ।।
मुक्तिगत नरश्रेष्ठ की भक्ती करें गुणभेद से ।
वह परमभक्ती कही है जिनसूत्र में व्यवहार से ।।

मोक्ष में गये हुए पुरुषों के गुणभेद जानकर उनकी परम भक्ति करना व्यवहारनय से भक्ति कहलाती है। मुक्ति को प्राप्त महापुरुषों का—भगवन्तों का गुणानुवाद ही व्यवहार भक्ति है।

---

९६. नियमसार, गाथा १८६ ९७. नियमसार, गाथा १३६
९८ नियमसार, गाथा १३५

(९९)

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।

द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को ।
वे जानते निज आतमा दृगमोह उनका नाश हो ।।

जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से एवं पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि मोह के नाश का उपाय अपने आत्मा को जानना-पहिचानना है और अपना आत्मा अरहंत भगवान के आत्मा के समान है; अतः द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहत भगवान का स्वरूप जानना मोह के नाश का उपाय है।

(१००)

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ।।

सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी ।
सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी ।।

सभी अरहंत भगवान इसी विधि से कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और सभी ने इसीप्रकार मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है, उन सभी अरहंतों को मेरा नमस्कार हो।

(१०१)

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ।।

है ज्ञान दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है ।
हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है ।।

शुद्ध को ही श्रामण्य कहा है, शुद्ध को ही दर्शन-ज्ञान कहे हैं और शुद्ध को ही निर्वाण होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोगी श्रमण मुक्ति को प्राप्त करता है। मुक्त जीव ही सिद्ध कहलाते हैं। अतः सभी सिद्धों को मेरा बारंबार नमस्कार हो।

---

९९. प्रवचनसार, गाथा ८०　　१००. प्रवचनसार, गाथा ८२
१०१. प्रवचनसार, गाथा २७४

अभिमत

लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं एवं मनीषियों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

वयोवृद्धव्रती विद्वान ब्र. पण्डित जगनमोहनलालजी शास्त्री, कटनी (म.प्र.)

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के पुनीत अवसर पर यह डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की कृति, जिसमें पांचों परमागमों का संक्षिप्त सार सरल भाषा में प्रतिपादन किया गया है, अभिनन्दनीय है।

साधारण पाठकों के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए पुस्तक अति उपयोगी है। इसे पढ़ने के बाद पाठक विस्तृत जानकारी के लिए स्वयं जिज्ञासु होगा और मूल ग्रंथ में उसका सरलता से प्रवेश होगा।

इसमें आचार्य कुन्दकुन्द की ऐतिहासिक महत्ता पर सभी उपलब्ध प्रमाणों पर गहन अध्ययन कर तथ्य निरूपण किया गया है।

'कुन्दकुन्द शतक' भी अच्छी लिखी गई है, उसका पद्य रूप में अवतरण प्रतिदिन सामायिकादि काल में सामायिक पाठ की तरह पठनीय है।

प्रो. उदयचन्दजी जैन, एम. ए., सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी (उ. प्र.)

जो आत्मार्थी मूल ग्रन्थों को पढ़े बिना आचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि पंचपरमागमों के हार्द को संक्षेप में जानना चाहते हैं, उन्हें सरल एवं सुबोध हिन्दी में लिखित इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए। डॉ. भारिल्ल ने इसमें पंचपरमागमों के प्रतिपाद्य विषय का बड़े ही रोचक ढंग से विवेचन किया है। इसका प्रथम अध्याय विशेष रूप से पठनीय है।

कुन्दकुन्द शतक एक लघुकृति है, फिर भी इसका अपना महत्त्व है। इसमें पंचपरमागमों में से उच्चकोटि की १०१ गाथाओं का चयन करके गाथाओं के साथ उनका संक्षिप्त सरलार्थ भी दे दिया है। यह कृति वैसी ही है, जैसे कि समुद्र के जल को एक कुम्भ में भरकर रख दिया हो। इसके अध्ययन से आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों की एक झलक मिल जाती है। इसकी एक विशेषता और है कि डॉ. भारिल्ल ने उक्त १०१ गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद भी किया है। अतः जो सज्जन प्राकृत गाथा और हिन्दी पद्य का एक साथ रसास्वाद लेना चाहते हैं, उन्हें इस पुस्तिका को अवश्य पढ़ना चाहिए।

पण्डित रतनलालजी कटारिया, सम्पादक, जैनसन्देश, केकड़ी (राज.)

प्रस्तुत कृति सरस, सरल, सुबोध भाषा में लिखी गई है। पुस्तक की छपाई, कागज, जिल्द आदि उत्तम है। श्रमसिद्ध कृति के लिए साधुवाद।

डॉ. राजारामजी जैन, एच. डी. जैन कॉलेज, आरा (बिहार)

'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम' के प्रकाशन ने शिक्षा-जगत की एक बड़ी भारी कमी को पूरा किया है। स्वाध्यायी एवं शोधार्थी अद्यावधि इसका अनुभव करते रहे हैं कि उन्हें कुन्दकुन्द के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का सार एक साथ ही उपलब्ध हो जाय तो उससे उन्हें कुन्दकुन्द के पूर्ण व्यक्तित्व की प्रारम्भिक झाँकी सरलता से मिल सकेगी, किन्तु इस कमी की ओर किसी का ध्यान नहीं जा सका था।

सुविख्यात विचारक डॉ. भारिल्ल ने उस कमी का अनुभव कर आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी समारोह के पुण्य प्रसंग पर उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन से दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति की है; इसके लिए शिक्षा जगत उनका सदा आभारी रहेगा।

डॉ. ज्योतिप्रसादजी जैन, ज्योतिनिकुंज, चार बाग, लखनऊ (उ. प्र.)

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य के साहित्य और चिन्तन के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से लिखित 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम' कृति भाषा, शैली, मुद्रण, प्रकाशन एवं साज-सज्जा सभी दृष्टियों से उत्तम, पठनीय एवं मननीय है। लेखक व प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

डॉ. हरीन्द्रभूषणजी जैन, निदेशक, अनेकान्त शोधपीठ, बाहुबली, उज्जैन

'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम' अत्यन्त उपयोगी कृति है। आचार्य कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के साथ उनके प्रमुख पांच आगम ग्रन्थों का संक्षेप में परिचय निश्चय ही विद्वानों एवं सामान्यजनों को अत्यन्त रुचिकर एवं ज्ञानवर्द्धक होगा। पुस्तक के अन्त में 'कुन्दकुन्द शतक' में गाथाओं का चयन सुन्दर हुआ है। इसे गद्य व पद्यानुवाद से अलंकृत कर देने के कारण इसकी उपादेयता बढ़ गई है।

महामहोपाध्याय डॉ. दामोदरजी शास्त्री, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

निस्सन्देह इस कृति में युग प्रधान आचार्य श्री कुन्दकुन्द के समग्र चितन को प्रस्तुत कर 'गागर में सागर' की उक्ति को सार्थक किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रस्तावित द्विसहस्राब्दी समारोह के प्रसंग में इसका प्रकाशन और भी अधिक महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय हो गया है।

डॉ. महेन्द्रसागरजी प्रचण्डिया, निदेशक, जैन शोध अकादमी, अलीगढ़ (उ. प्र.)

समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय संग्रह, नियमसार और अष्टपाहुड़ महामनीषी आचार्य कुन्दकुन्द के पाँच प्रख्यात ग्रंथराज हैं। इन सभी ग्रंथों में जिनमार्ग का सिद्धान्त और मूलाचार अन्दापित किया गया है। विद्वान लेखक डॉक्टर भारिल्ल ने इन सभी कृतियों का सार और सारांश सपाट बयानी में अभिव्यक्त किया है। आज के वैचारिक विश्व में प्रस्तुत पंच परमागम समादृत होगा।

डॉ. प्रेमसुमनजी जैन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

पुस्तक बहुत उपयोगी है। इनसे आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की विषय-वस्तु सहज ही हृदयंगम हो जाती है और पाठक को यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि वह मूल ग्रन्थों का भी स्वाध्याय करे। कुन्दकुन्द शतक का पद्यानुवाद भी अच्छा हुआ है।

डॉ. राजेन्द्रकुमारजी बंसल, कार्मिक अधिकारी, ओ. पी. मिल, अमलाई (म. प्र.)

आचार्य कुन्दकुन्द के विचारों एवं उनकी कृतियों को जन ग्राह्य बनाने में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम' कृति विशेष उल्लेखनीय है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द के भावों को सार रूप में दर्शाया गया है। डॉ. भारिल्ल अध्यात्म के बेजोड़ चिन्तक तथा साहित्यिक प्रतिभा के धनी हैं। गद्य-पद्य एवं साहित्य की अन्य विधाओं में वे सिद्धहस्त है, जिसका प्रमाण यह कृति है।

डॉ. कस्तूरचन्दजी सुमन, प्रभारी, जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राज०)

सरल सुबोध भाषा से रोचक शैली में आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व और कृतित्व जानने के लिए डॉ. भारिल्ल द्वारा लिखी गई प्रस्तुत कृति वर्तमान जैन साहित्य की एक अनुपम देन है।

डॉ. प्रेमचन्दजी रांवका, सेजड़ों का रास्ता, जयपुर (राज.)

डॉ. भारिल्लजी की यह कृति उनकी जैन वाङ्मय की सतत रचनाओं की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। निश्चय ही यह कृति उनके द्वारा सभी स्तर के पाठकों के लिए परमोपयोगी बन गई है। जैन एवं जैनेतर साहित्यानुरागियों के लिए यह कृति आचार्य कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व की दृष्टि से उपादेय सामग्री प्रदान करती है।

जैनजगत (मासिक) बम्बई, मई, १९८८ ई०

इस पुस्तक में आचार्य श्री कुन्दकुन्द का संक्षिप्त परिचय और उनकी पाँच कृतियों का संक्षिप्त सार प्रकाशित किया गया है। समयसार, प्रवचनसार,

नियमसार, पंचास्तिकाय संग्रह एवं अष्टपाहुड इन पांच परमागमों का सार इस पुस्तक में है। स्वाध्याय करने वालों के लिए इन पांच कृतियों की विषयवस्तु से परिचित होने के लिए यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी है। सार-संक्षेप में पांचों ग्रंथों का कम समय में स्वाध्याय इस ग्रंथ द्वारा हो सकता है। पुस्तक में उपसंहार के बाद कुन्दकुन्द शतक आठवें अध्याय में प्रकाशित किया गया है। पांच परमागमों में से चुनी हुई एक सौ एक गाथाएँ अर्थ सहित उसमें दी गई हैं। पुस्तक का कागज अच्छा एवं मुद्रण निर्दोष है। मूल्य केवल पांच रुपए रखकर जन-जन तक साहित्य पहुँचाने की दृष्टि से बहुत अच्छा किया गया है।

— डॉ० चन्दनमल 'चांद', सम्पादक

जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) जयपुर, मार्च प्रथम पक्ष, १९८९ ई०

डॉ. भारिल्ल की नवीनतम कृति 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम' अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व और उनके साहित्य के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने का एक ऐसा सीधा सपाट और सुगम सोपान बन गया है, जिसके द्वारा अनादि से आत्मा से अपरिचित और प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ आत्मार्थियों को अध्यात्म शिखर की दुर्गम यात्रा अत्यन्त सुगम हो सकेगी।

कम पढ़े-लिखे स्वाध्यायप्रेमी जिज्ञासुओं के लिए तो यह कृति अत्यन्त उपयोगी है ही, व्यापारादि में अत्यन्त व्यस्त रहनेवाले व्यक्तियों के लिए भी कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों के सारांश का लाभ अल्प समय में ही इस कृति द्वारा प्राप्त हो सकता है। — पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, सम्पादक

समन्वयवाणी (पाक्षिक) जयपुर, फरवरी द्वितीय पक्ष, १९८९ ई०

आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों का सार संक्षेप पुस्तक में बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत कर डॉ० भारिल्लजी ने बहुत बडी कमी की पूर्ति की है। अन्तिम अध्याय में "कुन्दकुन्द शतक" के रूप में १०१ चुनी हुई गाथाएँ पद्यानुवाद के साथ प्रकाशित की गई हैं, जो भाव भाषा की दृष्टि से सहजग्राह्य हैं। साफ सुथरा मुद्रण तथा अल्पमूल्य होने से पुस्तक जनोपयोगी बन गई है।

— अखिल बंसल, संपादक

शोधादर्श (त्रैमासिक) लखनऊ, नवम्बर, १९८८ ई०

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वद्वर डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने सरल सुबोध भाषा में आचार्य कुन्दकुन्द और उनके समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय संग्रह, नियमसार तथा अष्टपाहुड़ नामक पंचपरमागमों का परिचय प्रस्तुत किया है। पुस्तक पठनीय और मनन योग्य है। — रमाकान्त जैन, सम्पादक